मूल्य :
एक रु०

युक्रांद

फरवरी,
१९७४

भगवान रजनीश-साहित्य

१ ताओ उपनिषद् ४०-००
२ गीता-दर्शन (अध्याय६) ३०-००
३ महावीर मेरी दृष्टि में ३०-००
४ महावीर वाणी भाग १ ३०-००
५ महावीर वाणी भाग २ ३०-००
६ जिन खोजा तिन पाइयां २०-००
७ मैं मृत्यु सिखाता हूं २०-००
८ इशावास्योपनिषद् १५-००
९ निर्वाणोपनिषद् १५-००
१० गीता-दर्शन अध्याय: ७ १२-००
११ प्रेम है द्वार प्रभु का ९-००
१२ घाट भुलाना बाट बिनु ७-००
१३ नव-संन्यास क्या ? ७-००
१४ समुन्द समाना बुंद में ७-००
१५ सूली ऊपर सेज पिया की ७-००
१६ सत्य की पहली किरण ६-००
१७ मैं कहता आंखन देखी ६-००
१८ क्रांति बीज ६-००
१९ अन्तर्वीणा ६-००
२० ढाई आखर प्रेम का ६-००
२१ प्रभु की पगडंडियां ६-००
२२ संभावनाओं की आहट ६-००
२३ संभोग से समाधि की ओर ६-००
२४ प्रेम के फूल ५-००
२५ अस्वीकृति में उठा हाथ ५-००
(भारत-गांधी और मेरी चिंता)
२६ ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं ५-००
चदरिया
२७ साधना-पथ ५-००
२८ अन्तर्यात्रा ५-००
२९ सत्य की खोज ५-००
३० मिट्टी के दिए ५-००
३१ मुल्ला नसरुद्दीन ५-००
३२ गहरे पानी पैठ ५-००
३३ काम-योग धर्म और गांधी ४-००
३४ समाजवाद से सावधान ४-००
३५ शून्य के पार ४-००
३६ पथ के प्रदीप
३७ शांति की खोज
३८ मैं कौन हूं
३९ शून्य की नाव
(सत्य का सागर शून्य की ना
४० नए संकेत
४१ पथ की खोज
(सिंहनाद का नया संस्करण
४२ अज्ञात की ओर
४३ सत्य के अज्ञात सागर का
आमंत्रण
४४ क्रांति की वैज्ञानिक प्रक्रिया
४५ ज्योतिष : अद्वैत का विज्ञान
४६ ज्योतिष : अर्थात अध्यात्म
४७ जनसंख्या विस्फोट :
समस्या और समाधान
४८ ध्यान एक वैज्ञानिक दृष्टि
४९ प्रगतिशील कौन
५० प्रेम और विवाह
५१ विद्रोह क्या है ?
५२ मेडीसिन और मेडीटेशन
५३ सारे फासले मिट गए
५४ अमृत कण
५५ अहिंसा दर्शन
५६ अज्ञात के नए आयाम
५७ धर्म और राजनीति
५८ बिखरे फूल
५९ मन के पार
६० युवक और यौन
६१ कुछ ज्योतिर्मय क्षण
६२ अवधिगत संन्यास
६३ क्रांति की नई दिशा :
नई बात (नारी और
६४ क्रांति के बीच सबसे बड़
दीवार (भारत के सा धु-
६५ संस्कृति के निर्माण में
सहयोग (जीवन जागृति
क्या, क्यों, कैसे ?)

भगवान रजनीश की सृजनात्मक
युग क्रांति दर्शन की मासिक
संकलन पत्रिका

युगबोध

वर्ष – ५ अंक – १५ : १६

मूल्य एक प्रति : १-०० रु.
„ वार्षिक : १२-०० रु.

फरवरी १९७४

मानसेवी संपादक मंडल :

○ अरविन्दकुमार
○ डॉ. उर्मिला, पी-एच.डी.
○ 'आकुल' राजेन्द्र
(साधु आनन्द 'आकुल')
○ आलोक पाण्डे

□ स्वामी धर्म सरस्वती, व्यवस्थापक

युगान्द

फरवरी

७४

★

अनुक्रमणिका

प्रवचन : संकलन

: ३ : प्रेम की श्रेष्ठता
(भगवान श्री की बोध-कथाओं से)

: ५ : कृष्ण और गीता
(अध्याय ११, पांचवां प्रवचन) संकलन : अरविन्दकुमार

: ३३ : लाओत्से पर बोलना मैंने क्यों चुना
(एक प्रवचनांश) संकलन : आनन्द मैत्रेय, बम्बई

: ४२ : महावीर मेरी दृष्टि में
संक्षिप्त रूपान्तरण : 'आकुल' राजेन्द्र

गीत : काव्य

: ४ : नन्हा सा दिया
स्वामी अगेह भारती, जबलपुर

स्वत्वाधिकारी प्रकाशक : अरविन्दकुमार, ७९०, राइट-टाउन, जबलपुर.
मुद्रण : अशेष प्रिन्टर्स, ७८१, राइट-टाउन, जबलपुर. ☎ 2957 P.P.

बोध कथाएं ३२

प्रेम की श्रेष्ठता

प्रार्थना क्या है ? प्रेम और समर्पण, और जहां प्रेम नहीं है, वहां प्रार्थना नहीं है।

□

प्रेम के स्मरण में एक अद्‌भुत घटना का उल्लेख है। नूरी, रक्काम एवं अन्य कुछ सूफी फकीरों पर काफिर होने का आरोप लगाया गया था, और उन्हें मृत्यु दण्ड दिया जा रहा था। जल्लाद जब नंगी तलवार लेकर रक्काम के निकट आया तो नूरी ने उठकर स्वयं को अपने मित्र के स्थान पर अत्यन्त प्रसन्नता और नम्रता के साथ पेश कर दिया। दर्शक स्तब्ध रह गये। हजारों लोगों की भीड़ थी। उनमें एक सन्नाटा दौड़ गया। जल्लाद ने कहा : 'हे युवक, तलवार ऐसी वस्तु नहीं है, जिससे मिलने के लिए लोग इतने उत्सुक और व्याकुल हों। फिर तुम्हारी अभी बारी भी नहीं आई है ?' और पता है कि फकीर नूरी ने उत्तर में क्या कहा ? उसने कहा : 'प्रेम ही मेरा धर्म है। मैं जानता हूं कि जीवन संसार में सबसे मूल्यवान् वस्तु है, लेकिन प्रेम के मुकाबले वह कुछ भी नहीं है। जिसे प्रेम उपलब्ध हो जाता है, उसे जीवन खेल से ज्यादा नहीं है। संसार में जीवन श्रेष्ठ है। प्रेम जीवन से भी श्रेष्ठ है क्योंकि वह संसार का नहीं, सत्य का अंग है। और, प्रेम कहता है कि जब मृत्यु आये तो अपने मित्रों के आगे हो जाओ और जब जीवन मिलता हो तो पीछे। इसे हम प्रार्थना कहते हैं।'

□

प्रार्थना का कोई ढांचा नहीं होता है। वह तो हृदय का सहज अंकुरण है। जैसे पर्वत से झरने बहते हैं, ऐसे ही प्रेम-पूर्ण हृदय से प्रार्थना का आविर्भाव होता है।

●

नन्हा सा दिया

अब
मैं बन्द कर लेता हूं आंख के द्वार
कान की खिड़कियां
हो जाता हूं भीतर
क्योंकि बाहर बहुत आंधी और तूफान हैं
और मैं तेल-बाती से जलता हुआ
एक नन्हा सा दिया,

जब जलता रह सकूंगा तेल-बाती के बिना
तब निकलूंगा बाहर
और मिलूंगा तूफान से...
तब होगा मिलने का मजा भी,
अभी तो हूं तेल-बाती से जलता हुआ
एक नन्हा सा दिया...।

□ *स्वामी अगेह भारती*
जबलपुर

कृष्ण और गीता

[*गीता अध्याय ११ पर भगवान श्री रजनीश जी के ३ जनवरी ७३ से १४ जनवरी ७३ तक—क्रास मैदान, बंबई में १२ प्रवचन हुए हैं। उस क्रम का एक प्रवचन क्रमांक ९ वां, श्लोक २३ से २८ के अंश को प्रस्तुत किया गया है।*

युक्रांद प्रकाशन का ऐसा प्रयत्न है कि प्रति माह गीता के ११ वें अध्याय का एक-एक प्रवचन दिया जाय, अतः प्रेमी सुविज्ञ साधकों से निवेदन है कि 'युक्रांद' के इन बहुमूल्य अंकों को आप संजो कर रखेंगे तो—वर्ष के अन्त में आपके हाथ में गीता अध्याय ११ पूरा का पूरा हो सकेगा। —सं०]

एक मित्र ने पूछा है कि परमात्मा के विराट स्वरूप को समझाते हुए आपने कल जन्म और मृत्यु, सृजन और संहार, सुन्दर और भयानक आदि के द्वन्द्वात्मक अस्तित्व की बात की; समझाएं कि जिस परमसत्य को अमृत या सच्चिदानन्द के नाम से कहा गया, वह उपर्युक्त द्वन्द्वों का जोड़ है, अथवा इन दो के अतिरिक्त वह कोई तीसरी सत्ता है।

भगवान श्री :

द्वन्द्व चारों ओर है। संसार में जहां भी देखेंगे वहां एक कभी भी दिखाई नहीं पड़ेगा—विपरीत सदा मौजूद होगा। संसार के होने का ढंग ही

विपरीत के बिना असम्भव है। इस एक बात को ठीक से समझ लें—जैसे कि कोई मकान बनाने वाला राजगीर विपरीत ईंटों को जोड़कर गोल दरवाजा बनाता है। अगर एक ही रुख में ईंटें लगाई जाएं तो दरवाजा गिर जाएगा। विपरीत ईंटें एक दूसरे के प्रति विरोध का काम करके दरवाजे को संभालने का आधार बन जाती हैं।

सारा जगत विपरीत ईंटों से बना हुआ है। वहां प्रकाश है तो केवल इसलिए कि अन्धेरा भी है। और अन्धेरा भी हो सकता है तभी तक, जब तक प्रकाश है। प्रकाश और अन्धेरा विपरीत ईंटें हैं—दो कारणों से। एक तो सभी ईंटें समान होती हैं। हम उन्हें विपरीत लगा सकते हैं। अन्धेरा और प्रकाश एक ही सत्ता के दो रूप हैं। ईंटें एक जैसी हैं, लेकिन एक दूसरे के विपरीत लग जाती हैं।

जन्म और मृत्यु एक ही जीवन के दो छोर हैं। लेकिन जन्म नहीं होगा, जिस दिन मृत्यु बन्द हो जाएगी; और मृत्यु भी नहीं होगी उसी दिन, जिस दिन जन्म बन्द हो जाएगा। जन्म और मृत्यु का विरोध जो तनाव पैदा करता है, वही तनाव संसार है। संसार एक अशांत अवस्था है। और अशांत अवस्था तभी हो सकती है, जब विपरीत द्वन्द्व मौजूद हो। आप भी अगर केवल आत्मा हों तो संसार में नहीं रह जाएंगे। आप भी केवल शरीर हों तो भी आप, आप नहीं रह जाएंगे—मिट्टी हो जाएंगे। आपके भीतर भी शरीर और आत्मा का एक द्वन्द्व है। उस द्वन्द्व के तनाव में विपरीत ईंटों के बीच ही आपका अस्तित्व है। जहां भी खोजेंगे वहां पाएंगे कि विरोध है।

राम के अकेले होने का कोई उपाय नहीं। रावण का होना एकदम जरूरी है। और रावण हमें कितना ही अप्रीतिकर लगे, कितना ही हम चाहें कि वह न हो; लेकिन हमें पता नहीं है कि रावण के न होते ही राम के होने का कोई उपाय नहीं रह जाता। थोड़ा सोचें। रावण को हटा लें राम की कथा से, तो रावण के हटाते ही राम में जो भी महत्वपूर्ण है तत्क्षण गिर जाएगा। वह तो रावण की विपरीत ईंट के कारण ही राम की प्रखरता है। राम को हटा लें तो रावण व्यर्थ हो जाएगा। सारे जीवन का चक्र द्वन्द्व के आधार पर है।

यह जो द्वन्द्व है, यह जिस दिन शान्त हो जाता है, उस दिन हम संसार के बाहर हो जाते हैं। जिस क्षण यह द्वन्द्व शान्त होता है, उस क्षण

अद्वैत में प्रवेश होता है। लेकिन अद्वैत जीवन नहीं है; अद्वैत ब्रह्म है। अद्वैत जीवन इसलिए नहीं है कि वहां कोई मृत्यु नहीं है। जहां मृत्यु नहीं है वहां जीवन का कोई अर्थ नहीं होता। जहां हार हो सकती है वहां विजय का कोई मूल्य है। जहां मिटना हो सकता है वहां होने का कोई अर्थ है। हमारे सारे शब्द संसार के हैं, इसलिए भी जो हम कहें भाषा में उसका विपरीत होगा ही। उस विपरीत को हम कितना ही भुलाने की कोशिश करें, उसे भुलाने का कोई उपाय नहीं है। हम कितना ही छिपाएं वह छिपेगा नहीं। इस पहली बात को ध्यान में ले लेना जरूरी है। संसार का अस्तित्व द्वंद्वात्मक है, डायलेक्टिकल है। और संसार की सारी गति द्वन्द्व से होती है।

जर्मन विचारक हीगेल ने पश्चिम की विचारधारा में डायलेक्टिक्स को जन्म दिया। उसने पहली दफा पश्चिम में यह विचार प्रस्तुत किया कि जीवन की सारी गति द्वन्द्व से है, और जहां द्वन्द्व है वहां गति होगी। और जहां गति है वहां द्वन्द्व होगा। और जहां गति नहीं होगी वहां द्वन्द्व समाप्त हो जाएगा या द्वन्द्व बन्द हो जाय तो गति समाप्त हो जाएगी।

हीगल के ही विचार को कार्ल मार्क्स ने नया रूप देकर कम्यूनिज्म को जन्म दिया। क्योंकि हीगेल ने कहा था, वाद पैदा होता है तो तत्क्षण विवाद पैदा होता है। थीसेस, एन्टीथीसेस और दोनों मिलकर सिन्थेसिस बन जाते हैं, समन्वय बन जाता है। लेकिन समन्वय फिर वाद हो जाता है। फिर उसका प्रतिवाद होता है। और ऐसे विकास होता है।

मार्क्स ने इसी विचार के आधार पर समाज की व्याख्या की और उसने कहा गरीब और अमीर का द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व से, इस द्वन्द्व के पास समाजवाद का जन्म होगा। लेकिन मार्क्स अपने ही विचार को बहुत दूर तक नहीं खींच सका। अगर यह सच है कि विकास द्वन्द्व से होता है, तो समाजवाद के पैदा होते ही समाजवाद के विपरीत कोई धारा तत्काल पैदा हो जाएगी।

लेकिन, मार्क्स को यह हिम्मत नहीं पड़ सकी कि वह कहे कि समाजवाद के विपरीत भी कोई धारा पैदा होगी। उसने पुराने इतिहास में तो द्वन्द्व को देखा, कामना की कि भविष्य में कोई द्वन्द्व नहीं होगा और साम्यवाद सदा बना रहेगा, उसका कोई विरोध नहीं होगा। वह अपने

विचार के प्रति अति मोह के कारण है। जैसे मां अपने बेटे को नहीं चाहती कि वह मरे—जानते हुए कि सभी मरते हैं, उसका बेटा भी मरेगा। विचारक भी अपने विचार से अति मोहग्रस्त हो जाते हैं।

इस जगत में कुछ भी पैदा नहीं हो सकता जिसका विरोध न हो—विरोध होगा ही। विरोध ही गति है, इस जगत का प्राण है। यहां निर्विरोध कोई बात नहीं हो सकती।

जिन्होंने पूछा है, उन्होंने पूछा है कि उस परम एकाकार का जब अनुभव होगा, तो दोनों द्वन्द्व मिल जाएंगे या दोनों द्वन्द्वों के अतीत चला जाता है व्यक्ति। दोनों बातें एक ही हैं। जहां द्वन्द्व मिलते हैं, वहां एक दूसरे को काट देते हैं। जैसे ऋण और धन अगर मिल जाएं तो दोनों कट जाते हैं। जहां दोनों बिन्दु मिलते हैं वहां उनकी दोनों की शक्ति एक दूसरे को काट देती है और द्वन्द्व शून्य हो जाता है। वही शून्यता पार होना भी है, वही ट्रान्सडेन्स भी है, वहीं आदमी पार भी हो जाता है।

जब तक आपका जीवन से मोह है, तब तक मृत्यु से भय रहेगा। अगर जीवन का मोह छूट जाय, मृत्यु का भय भी तत्क्षण छूट जायगा। जहां जीवन का मोह नहीं, मृत्यु का भय नहीं वहां आप पार निकल गए—वहां आप उस जगह पहुंच गए जहां द्वन्द्व नहीं है। लेकिन हम तो ईश्वर की भी बात करते हैं तो हमारी भाषा का द्वन्द्व प्रवेश कर जाता है। हम कहते हैं, ईश्वर प्रकाश है। हम डरेंगे कहने में कि ईश्वर अन्धकार है; क्योंकि हमारी आकांक्षा हमारे शब्द की निर्मात्री है। हम चाहते हैं कि ईश्वर प्रकाश हो। तो अन्धेरे को हम छोड़ देंगे। हम कहते हैं ईश्वर अमृत है, परम जीवन है। हम यह कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाते कि ईश्वर परम मृत्यु है—महामृत्यु है। हम चुनते हैं शब्द भी तो हमारा मोह है। हम चाहते हैं, कहीं भी मृत्यु न हो। तो हम ईश्वर के लिए अमृत का उपयोग करते हैं। हम कहते हैं ईश्वर सच्चिदानन्द है। यह भी हमारा मोह है। हम नहीं कह सकते कि ईश्वर परम दुख है; हम कहते हैं परम सुख है। द्वन्द्व में से एक को चुनते हैं; वहां भूल हो जाती है। ईश्वर सुख-दुख दोनों का मिल जाना है।

और जहां सुख-दुख मिल जाते हैं, एक दूसरे को काट देते हैं। उस घड़ी को हम जो नाम देंगे, वह नाम सुख नहीं हो सकता। इसलिए हमने

आनन्द चुना है। आनन्द के विपरीत कोई शब्द नहीं है। सुख के विपरीत दुख है। आनन्द के विपरीत कुछ भी नहीं है। हालांकि आप जब भी आनन्द की बात करते हैं, तो आपका अर्थ सुख होता है। वह अर्थ ठीक नहीं है। आपके आनन्द की धारणा में सुख समाया होता है; और दुख अलग होता है! वह ठीक नहीं है।

आनन्द की ठीक स्थिति का अर्थ है—जहां सुख और दुख मिलकर शून्य हो गए—एक दूसरे को काट दिया उन्होंने—एक दूसरे का निषेध हो गया—जहां दोनों नहीं रहे। इसलिए बुद्ध ने आनन्द शब्द का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि आनन्द से हमारे सुख का भाव झलकता है। तो बुद्ध ने कहा—शान्ति, परम शान्ति, सब शान्त हो जाता है, द्वन्द्व शान्त हो जाता है। इसे चाहे हम कहें दो का मिल जाना, चाहे हम कहें दो के पार हो जाना, एक ही बात है।

जीवन में जहाँ भी आपको द्वन्द्व दिखाई पड़े, चुनाव मत करना। **जो चुनाव करता है, वह गृहस्थ है, जो चुनाव नहीं करता, वह संन्यस्थ है।** इस बात को थोड़ा समझ लें। दुःख है, सुख है। तत्क्षण हमारा मन कहता है—जन्म ठीक है, मृत्यु ठीक नहीं है। मित्र हैं, शत्रु हैं। हमारा मन कहता है—मित्र ही मित्र रहे शत्रु कोई भी न रहे। यह चुनाव है, च्वाइस है। और जहां चुनाव है, वहां संसार है; क्योंकि आपने दो में से एक को चुन लिया। और दो ही अगर आप एक साथ चुन लें, तो कट जाएंगे दोनों।

अगर आप मान लें कि मित्र भी होंगे, शत्रु भी होंगे; और आपके मन में कोई रत्ती भर चुनाव न हो कि मित्र ही बचें, शत्रु न बचें। आपके मन में कोई चुनाव न हो कि जीवन ही रहे, मृत्यु न रहे। आप दोनों के लिए राजी हो जाएं। जो हो, उसके लिए आपको पूरी की पूरी तथाता, एक्सेप्टीबिलिटी हो, स्वीकार हो; तो आप संन्यस्थ हैं। फिर आप मकान में हैं, दुकान में हैं, बाजार में हैं कि हिमालय पर हैं, कोई फर्क नहीं पड़ता। आपके भीतर चुनाव खड़ा न हो—च्वाइसलेसनेस।

कृष्णमूर्ति निरन्तर च्वाइसलेसनेस—चुनावरहितता—की बात करते हैं। वह चुनावरहितता यही है। दो के बीच कोई भी न चुनें। जैसे ही आप दो के बीच चुनाव बन्द करते हैं, दोनों गिर जाते हैं। क्यों? क्योंकि आपके चुनाव से ही वे खड़े होते हैं। और जटिलता यह है कि जब आप एक को

चुनते हैं तब अनजाने आपने दूसरे को भी चुन लिया। जब मैं कहता हूं, मुझे सुख ही सुख चाहिए तभी मैंने दुख को भी निमन्त्रण दे दिया। जो सुख की मांग करेगा, वह दुखी होगा। उस मांग में ही दुख है। जो सुख की मांग करेगा, वह अगर सुख न पाएगा, तो दुखी होगा, अगर पा लेगा तो भी दुखी होगा; क्योंकि जो सुख पा लिया जाता है, वह व्यर्थ हो जाता है। और जो सुख नहीं पाया जाता, उसकी पीड़ा सालती रहती है।

जैसे हम चुनते हैं एक को, दूसरा भी आ गया पीछे के द्वार से। और हम चाहते हैं कि दूसरा न आए। इसलिए हम चुनते हैं कि दूसरा न आए। हम चाहते हैं यश तो मिले, अपयश न मिले—प्रशंसा तो मिले, कोई अपमान न करे। लेकिन जो प्रशंसा चाह रहा है, उसने अपमान को बुलावा दे दिया। अपमान मिलेगा। अपमान तो केवल उसी को नहीं मिलता है, जिसने मान को चुना नहीं। जिसने मान को चुना, उसे अपमान मिलेगा। जरूरी नहीं है कि आप मान को न चुनें, तो कोई आपको गाली न दे . दे। लेकिन आपके पास गाली, गाली की तरह नहीं पहुंच सकती। यह दूसरे देने वाले पर निर्भर हो कि वह फूल फेंके कि पत्थर फेंके। लेकिन आपके पास अब पत्थर भी नहीं पहुंच सकता, फूल भी नहीं पहुंच सकता। वह तो फूल मुझे मिले, इसलिए पत्थर पहुंच जाता था। फूल ही मेरे पास आए, इसलिए पत्थर भी निमंत्रित हो जाता था। जैसे ही आप चुनाव छोड़ देते हैं, आप जगत के बीच भी जगत के बाहर हो जाते हैं।

यह जो चुनावरहितता है, यह संन्यास की गुह्य साधना है, आन्तरिक साधना है। संन्यास है मार्ग—दो के पार जाने का। संसार है द्वार—दो के भीतर जाने का। तो जितना आप ज्यादा चुनेंगे उतने आप उलझते चले जाएंगे। जितना आप मांग करेंगे उतने आप परेशान होते चले जाएंगे। जितना आप कहेंगे ऐसा हो, और ऐसा न हो उतनी ही आपकी चित्त-दशा विक्षिप्त होती चली जाएगी। जितना आप चुनाव क्षीण करते जाएंगे और आप कहेंगे—जैसा हो मैं राजी हूं, जो भी हो मैं राजी हूं। जैसा भी हो रहा है, उसके विपरीत की मेरी कोई मांग नहीं है। जीवन मिले तो ठीक और मृत्यु मिल जाय तो ठीक, दोनों के साथ मैं एक-सा ही व्यवहार करूंगा। मैं कोई भेद नहीं करूंगा। जैसे ही आपके भीतर का यह तराजू समतुल होता जाएगा वैसे ही वैसे द्वन्द्व क्षीण होगा और आप अद्वैत में, निर्द्वन्द्व में प्रवेश कर जाएंगे।

अर्जुन ऐसी ही घड़ी में खड़ा है—जहां उसके भीतर वह जो संसार था, खो गया है। वह चुनावरहित हो गया है। इस चुनावरहित होने के लिए बहुत उपाय हैं। एक उपाय साधक का है, योगी का है। वह चेष्टा कर-करके चुनाव को छोड़ता है। एक उपाय भक्त का है, प्रेमी का है। वह चेष्टा कर-करके नहीं छोड़ता। वह नियति को स्वीकार कर लेता है—भाग्य को स्वीकार कर लेता है। वह राजी हो जाता है।

यह, कृष्ण के पास जो अर्जुन खड़ा है और अर्जुन का यह खड़ा होना, एक भक्त का खड़ा होना है—एक समर्पित चेतना का, एक समर्पित उस चेतना का जो द्वन्द्व की मैं बात कर रहा हूं वही है। वह रहेगा, उससे बचने का कोई उपाय नहीं है—उसमें चुनाव न करें, शांत बैठे रहें। कृष्ण के सामने अर्जुन की जो दशा है, वह किसी साधक की नहीं है, वह कोई साधना नहीं कर रहा है, वह कोई योग नहीं साध रहा है, लेकिन कृष्ण के प्रेम में समर्पित हो गया है। वह एक गहरी समर्पण की भाव-दशा है। उसने छोड़ दिया सब कृष्ण पर। छोड़ने का अर्थ है—अब मेरा कोई चुनाव नहीं है। समर्पण का अर्थ है—अब मैं न चुनूंगा, अब तुम्हारी मरजी ही मेरा जीवन होगी। अब जो तुम चाहोगे, अब जो तुम्हारा भाव हो—मैं उसके लिए बहने को राजी हूं, अब मैं तैरूंगा नहीं।

एक तो आदमी नदी में तैरता है। वह कहता है, उस किनारे, उस जगह मुझे पहुंचना है। एक आदमी नदी में बहता है। वह कहता है, कहीं मुझे पहुंचना नहीं, नदी जहां पहुंचा दे, वहीं मेरी मंजिल है। अगर नदी बीच में डुबा दे, तो वही मेरा किनारा है। मुझे कहीं पहुंचना नहीं। नदी जहां पहुंचा दे, वही मेरा लक्ष्य है। यह समर्पित—सरेंडर्ड—भक्त का लक्षण है।

अर्जुन ऐसी दशा में है। वह कह रहा है, मैंने छोड़ा। अब मैं तैरूंगा नहीं। मैंने तैर कर देख लिया, सोचकर, विचारकर देख लिया। अब मैं छोड़ता हूं, अब मैं बहूंगा। अब कृष्ण तुम्हारी नदी मुझे जहां ले जाय। जो भी हो परिणाम, और जो भी हो मंजिल, या न भी हो, तो जहां भी मैं पहुंच जाऊं, जहां तुम पहुंचा दो मैं उसके लिए राजी हूं। यह अचुनाव है, च्वाइस समाप्त हो गई, चुनाव समाप्त हो गया। इस चुनाव के समाप्त

होने के कारण ही अर्जुन निर्द्वन्द्व हो सका और अद्वैत की उसे झलक मिल सकी।

एक और मित्र ने पूछा है कि क्या गीता स्वयं में पर्याप्त नहीं है, जो आप उसकी इतनी लम्बी व्याख्या कर रहे हैं? और शब्दों में दबी हुई आज की मनुष्य सभ्यता के लिए आप गीता को इतना विस्तृत रूप दे रहे हैं, इसके पीछे क्या कारण है?

गीता तो अपने में पर्याप्त है, लेकिन आप बिल्कुल बहरे हैं। गीता तो पर्याप्त से ज्यादा है। उसकी व्याख्या की कोई भी जरूरत नहीं। लेकिन आप उसे सुन भी न पाएंगे। आप उसे पढ़ भी न पाएंगे। वह आपके भीतर प्रवेश भी न पा सकेगी।

बुद्ध की आदत थी कि वह एक बात को हमेशा तीन बार कहते थे। तीन बार, छोटी-मोटी बातों को भी तीन बार कहते थे। आनन्द ने एक दिन बुद्ध को पूछा कि आप क्यों तीन-तीन बार किसी बात को कहते हैं? और छोटी-मोटी बात को आप तीन बार क्यों दोहराते हैं? सुन लिया। बुद्ध ने कहा कि तुम्हें भ्रम होता है कि तुमने सुन लिया। मुझे तीन बार कहना पड़ता है तब भी पक्का नहीं है कि तुमने सुना हो; क्योंकि सुनना बड़ी कठिन बात है। सुन केवल वही सकता है, जो भीतर विचार न कर रहा हो। जब आप भीतर विचार कर रहे होते हैं, तो जो आप सुनते हैं, वह कहा गया नहीं है। वह तो आपके विचारों ने तोड़ लिया, बदल लिया, नई शक्ल दे दी, नया ढंग दे दिया, नया अर्थ हो गया।

तो जब मैं कुछ कह रहा हूं, तो आप वही सुनते हैं, जो मैं कह रहा हूं, ऐसी भ्रांति में न पड़ें। आप वही सुनते हैं जो आप सुन सकते हैं, सुनना चाहते हैं। और आप जो सुनते हैं, वह आपकी व्याख्या हो जाए।

तो गीता तो पर्याप्त है, लेकिन आपके लिए ऐसा अवसर खोजना जरूरी है जबकि गीता आपके ऊपर हैमर की जा सके, हथौड़ी की तरह आपके सिर पर ठोंकी जा सके। इसलिए इतनी लम्बी व्याख्या करनी पड़ती है, फिर भी कोई पक्का भरोसा नहीं है कि आपको सुनाई पड़ जाएगी। फिर दूसरा कारण भी है। जिस दिन गीता निर्मित हुई, उस दिन के आदमी और आज के आदमी में जमीन-आसमान का अन्तर पड़ गया है। रोज अन्तर पड़ जाता

है। शब्द पुराने हो जाते हैं; जैसे वस्त्र पुराने हो जाते हैं, जैसे शरीर पुराने हो जाते हैं, तो शब्द पुराने हो जाते हैं; और पुराने शब्दों की पकड़ हम तक खो जाती है। उनको सुन-सुनकर हम बहरे हो जाते हैं। फिर उस अर्थ को बाहर खींचकर नए शब्द देने की हर युग में जरूरत पड़ जाती है। सत्य तो कभी बासा नहीं होता, लेकिन शब्द सदा बासे हो जाते हैं। आत्मा तो कभी पुरानी नहीं पड़ती, लेकिन शरीर पुराने पड़ जाते हैं। जब आप बूढ़े हो जाएंगे, आपका शरीर पुराना पड़ जाएगा। फिर आपकी आत्मा को नया शरीर ग्रहण कर लेना पड़ेगा।

गीता बहुत पुरानी हो गई है। और युग-युग में जरूरत है कि उसको नई देन मिल जाय—नए शब्द, नए आकार मिल जाएं। हमने इस मुल्क में उसकी बड़ी गहरी कोशिश की है; और इसके परिणाम हुए। अगर हम दूसरे मुल्कों को देखें तो ख्याल में आ जाएगी बात।

सुकरात ने कुछ कहा, वह बहुत कीमती है। लेकिन फिर उस पर कभी व्याख्या नहीं की गयी—फिर उस पर कोई व्याख्या नहीं हुई, वह संग्रहीत है। लेकिन हमने इस मुल्क में एक अनूठा प्रयोग किया और वह अनूठा प्रयोग यह था—कृष्ण ने गीता कही, अर्जुन ने सुनी। फिर बार-बार शंकर होंगे, रामानुज होंगे, निम्बार्क होंगे, बल्लभ होंगे, वे फिर से व्याख्या करेंगे। शंकर क्या कर रहे हैं : वे जो शब्द पुराने पड़ गए हैं, उनको हटाकर नये शब्द रख रहे हैं—आत्मा को नए शब्दों में प्रवेश दे रहे हैं, ताकि शंकर के युग के कान सुन सकें; और शंकर के युग का मन समझ सकें।

लेकिन अब तो शंकर भी पुराने पड़ गए। और हमेशा बात पुरानी पड़ जाएगी, शब्द तो पुराने पड़ ही जाएंगे। मैं जो कह रहा हूं, वह थोड़े दिन बाद पुराना हो जाएगा। जरूरत होगी कि फिर अर्थ को शब्द से छुटकारा करा दिया जाय।

व्याख्या का अर्थ है—अर्थ को, आत्मा को, शब्द से मुक्ति दिलाने की कोशिश। वह जो शब्द उसे पकड़ लेता है, उसे हटा दिया जाय; नया ताजा शब्द दे दिया जाय; ताकि आप नए ताजे शब्द को सुन सकें। मन रोज बदल जाता है और मन के बदलने के साथ मन के पकड़ने-समझने के ढंग बदल जाते हैं। थोड़ा समझ लें।

आज से पांच हजार साल पहले मन का आधार था—श्रद्धा, आस्था, भरोसा, विश्वास, ट्रस्ट। आज मन का आधार नहीं है—श्रद्धा पर। आज आस्था आधार नहीं है। आज ठीक विपरीत आधार है, सन्देह, डाउट। उसका कारण है; क्योंकि विज्ञान की सारी की सारी खोज संदेह पर खड़ी होती है, डाउट पर खड़ी होती है। विज्ञान चलता ही संदेह करके है। विज्ञान खोजता ही संदेह करके है। और जो सन्देह नहीं कर सकता वह वैज्ञानिक नहीं हो सकता।

इसलिए जिसे वैज्ञानिक होना हो उसे संदेह की कला सीखनी ही पड़ेगी। सारी दुनिया को हम विज्ञान की शिक्षा दे रहे हैं। हर बच्चा विज्ञान में दीक्षित हो रहा है। इसलिए हर बच्चे के मन में सन्देह प्रवेश कर रहा है; और जरूरी है। विज्ञान की शिक्षा ही बिना संदेह के हो नहीं सकती। विज्ञान का आधार ही संदेह है—सोचो, पूछो। तब तक मत मानो जब तक कि प्रमाण न मिल जाय। तब तक रुको। मानने की जल्दी मत करो।

धर्म का आधार बिलकुल विपरीत है। धर्म का आधार है—चुपचाप, सहज, स्वीकार कर लो—पूछो मत। पूछना ही बाधा हो जाएगी। तो पांच हजार साल पहले विज्ञान का कोई शिक्षण नहीं था। आदमी का मन धार्मिक था। गीता में जो कहा गया है वह सीधा भीतर प्रवेश कर जाता था। आज आदमी का मन धार्मिक बिल्कुल नहीं है; वैज्ञानिक है। विज्ञान बुरा है, यह मैं नहीं कह रहा हूं; या धर्म अच्छा है, यह भी मैं नहीं कह रहा हूं। इतना ही कह रहा हूं कि वैज्ञानिक होने के लिए संदेह अनिवार्य है। और धार्मिक होने के लिए श्रद्धा अनिवार्य है। उन दोनों के यात्रा-पथ बिल्कुल अलग हैं, विपरीत हैं।

तो सारी दुनिया का मन आज विज्ञान की तरफ आंदोलित हो रहा है। इसलिए धर्म की जो बात है उससे और आज के मन का कोई तालमेल नहीं है—हारमनी नहीं है—कोई संगति नहीं बैठती—कोई संबंध नहीं जुड़ता। आदमी जा रहा विज्ञान की तरफ, उसकी पीठ है श्रद्धा की तरफ। तो पीठ की तरफ से जो सुनाई पड़ता है वह समझ में नहीं आता। दो ही उपाय हैं, या तो आदमी को मोड़ कर श्रद्धा की तरफ खड़ा किया जाय, जो कि अति कठिन हो गया है। अति कठिन है; क्योंकि एक दिन में किसी का चित्त मोड़ा नहीं जाता। और अब तो वैज्ञानिक कहते हैं कि पहले सात

वर्षों में बच्चे को जो शिक्षण मिल जाता है, वह फिर जीवन भर पीछा करता है, फिर बदलना बहुत मुश्किल है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि चौदह वर्ष में बच्चे की बुद्धि करीब-करीब परिपक्व हो जाती है। चौदह वर्ष के बाद फिर बुद्धि में कोई बहुत विकास नहीं होता। तो चौदह वर्ष की उम्र तक जो प्रवेश कर जाता है, वह आधार बन जाता है। फिर जो कुछ भी होगा, उसके ऊपर होगा। इसलिए किसी आदमी के चेहरे को एकदम मोड़ा नहीं जा सकता। उसके सन्देह पर श्रद्धा नहीं बनाई जा सकती। और अगर जबरदस्ती बनाने की कोशिश की जाय तो सन्देह भीतर होगा, श्रद्धा ऊपर हो जाएगी—थोथी, झूठी, मुर्दा, उसमें कोई प्राण नहीं होंगे।

तो एक ही उपाय है और वह यह है कि धर्म की ऐसी व्याख्या की जाय जो संदेह से मन को भी आकर्षित करती हो। सन्देह को इन्कार न किया जाय, स्वीकार कर लिया जाय। और श्रद्धा की जबर्दस्ती न की जाय, श्रद्धा को सन्देह के मार्ग से ही लाया जाय, जो अति कठिन है। लेकिन अब इसके सिवाय कोई उपाय नहीं।

अगर मनुष्य जाति पुनः धार्मिक होगी, तो एक नया अनूठा प्रयोग करना पड़ेगा। वह यह कि आपके संदेह का ही उपयोग किया जाय आपको श्रद्धा तक लाने के लिए। आपके विचार, आपके तर्क, आपकी समझ का ही उपयोग किया जाय, समझ को ही नष्ट करने के लिए। आपके तर्क का ही उपयोग किया जाय, आपके तर्क को ही काट डालने के लिए। यह हो सकता है। पैर में कांटा लग जाता है तो दूसरे कांटे से उस कांटे को निकाल लेते हैं। और कोई भी यह नहीं कहता कि आप कांटे से कांटे को कैसे निकालेंगे। आदमी बीमार होता है, उसके शरीर में जहर फैल जाता है तो हम एन्टी-बायोटिक्स, और जहर डालकर उसके जहर को नष्ट कर देते हैं। वैक्सीनेशन का तो सारा सिद्धांत इस बात पर खड़ा हुआ है कि आपके शरीर में जो कीटाणु हैं बीमारी के, वे ही कीटाणु और बड़ी मात्रा में आपके भीतर डाल दिये जाएं।

तो अब तो धर्म होगा वैक्सीनेशन। अब तो आपसे यह नहीं कहा जा सकता कि श्रद्धा करिये। यह कोई खेल नहीं है। अब बहुत मुश्किल है। अब किसी छोटे बच्चे को भी कहना कि चुपचाप मान लो—व्यर्थ है। वह

बच्चा भी कहेगा कि आप क्या कह रहे हैं। पूछूं ना ? विचार न करूं ? तर्क न करूं ? तो आपका यह कहना कि श्रद्धा ही हमारी पहली शर्त है बच्चों के लिए तो आपके धर्म का द्वार बन्द हो गया। इसका अर्थ हुआ कि आप व्यर्थ की बकवास कर रहे हैं। जिसमें प्रश्न न पूछा जा सके और जिसमें संदेह न किया जा सके, वह सत्य नहीं हो सकता—वह अंधविश्वास है। आपने द्वार बन्द कर दिये। आज किसी से कहना, श्रद्धा करो, ना-समझी है।

आज तो एक ही उपाय है कि उसके संदेह को संदेह के ही मार्ग से काट डाला जाय। एक ऐसी घड़ी आ जाय कि उसका संदेह करने वाला मन संदेह करने में असमर्थ हो जाय, संदेह कर-कर के असमर्थ हो जाय। एक उपाय तो यह होता है कि आपको बांध कर बिठा दिया जाय कि शांत हो जाओ। छोटे बच्चों को घर में मां-बाप बिठा देते हैं कि शांत हो जाओ। छोटा बच्चा बैठ जाता है, लेकिन जरा उसका निरीक्षण करें, आबजर्व करें। वह हाथ-पैर हिलायेगा, कुछ करेगा। सिर हिलायेगा, कुछ करेगा। वह जो दौड़ता था, वह दौड़ अब उसके भीतर-भीतर चलेगी। आप उसको जबर्दस्ती बिठा दिये। इससे कुछ हल होने वाला नहीं है। ज्यादा वैज्ञानिक यह होगा कि उसे कहें, जाकर के मकान के दस चक्कर लगा कर आ। तो दस चक्कर लगाने में, शायद दस वह लगा भी न पाएगा, तीन और चार या पांच में थक जाएगा। कहेगा मुझे नहीं लगाना है। उसे कहें कि और पांच पूरे कर। फिर आप कोने में बैठा हुआ उसे देखें। अब उसके भीतर कोई गति नहीं होगी। अब वह शांत होगा। अब वह बुद्ध की प्रतिमा की तरह बैठा होगा।

आपके लिए अब दूसरा ही रास्ता है। आपको सीधे नहीं बिठाया जा सकता। इसलिए दस चक्कर मुझे लगाने पड़ते हैं। जो सीधा बैठ सकता है, उसे मुझे कुछ नहीं कहना है। लेकिन मुझे एक आदमी नहीं दिखाई पड़ता जो अब सीधा बैठ सकता हो। आपको दस चक्कर लगाने पड़ेंगे। इसलिए इतनी लम्बी व्याख्या करनी पड़ती है। वह चक्कर है। और आपके साथ मुझे भी लगाने पड़ते हैं; क्योंकि ध्यान रखना पड़ता है कहीं बीच में आप रुक न जाएं। जब तक थक न जाएं, एक्जास्टिड, आपकी बुद्धि को थकाने के सिवाय अब श्रद्धा तक ले जाने का कोई मार्ग नहीं है।

अब हम सूत्र को लें :

"और हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रों वाले, तथा बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाले, और बहुत उदरों वाले, तथा बहुत सी विकराल जाड़ों वाले, महान रूप को देख कर सारे लोक व्याकुल हो रहे हैं, तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूं।"

अर्जुन ने देखा विकराल रूप। जहां परमात्मा मृत्यु का मुख बन गया है। वह कह रहा है कि हे महाबाहो ! यह मैं देख रहा हूं इससे सारे लोक व्याकुल हो रहे हैं, मैं भी व्याकुल हो रहा हूं। मेरा हृदय धड़कता है और घबड़ाहट रोएं-रोएं में समा गई है। क्या यह भी आप हैं ? यह व्याकुलता स्वाभाविक है, क्योंकि हमने परमात्मा का एक ही रूप देखा, और हमने परमात्मा के एक ही रूप की पूजा की और हमने परमात्मा के एक ही रूप को सराहा। और हमने यह माना कि वह एक इसी रूप से एक है, दूसरा रूप परमात्मा का नहीं है। तो जब हमें पूरा परमात्मा दिखाई पड़े, तो व्याकुलता बिल्कुल स्वाभाविक है। यह व्याकुलता परमात्मा के रूप के कारण नहीं है; हमारी बुद्धि के तादाम्य के कारण है। हमने एक हिस्से के साथ तादाम्य कर लिया है। हमने देखा कि परमात्मा होगा—सौन्दर्य। हमने परमात्मा की सारी प्रतिमाएं सुन्दर बनाई हैं। कुछ हिम्मतवर तांत्रिकों ने कुरूप प्रतिमाएं भी बनाई हैं, लेकिन वे धीरे-धीरे खोती जा रही हैं। हमारे मन को उनकी अपील नहीं है।

अगर आप विकराल काली को देखते हैं—हाथ में खंजर लिये, कटा हुआ सिर लिये, गले में मुंडों की माला डाले हुए, पैरों के नीचे किसी की छाती पर सवार, लाल जीभ, खून टपकता हुआ, तो भला भय की वजह से आप नमस्कार करते हों, लेकिन मन में यह भाव नहीं उठता कि यह परमात्मा का रूप है। भला मान्यता के कारण आप सोचते हों कि ठीक, लेकिन भीतर यह भाव नहीं उठता कि यह परमात्मा का रूप है।

और स्त्री, ममता, मां जिसको हमने कहा; और काली को हम मां कहते हैं। मां जो है, वह ऐसा विकराल रूप लिये खड़ी है, तो मन को बड़ी बेचैनी होती है कि क्या बात है। लेकिन, जिन्होंने यह विकराल रूप खोजा था, उन्होंने एक द्वंद्व को इकट्ठा करने की कोशिश की। मां से ज्यादा प्रेम से भरा हुआ हृदय पृथ्वी पर दूसरा नहीं है। इसलिए मां को खड़ा किया

इतने विकराल रूप में, जो कि दूसरा छोर है। मां को ऐसे खड़ा किया जैसे वह मृत्यु हो। मां तो जन्म है। मां को ऐसे खड़ा किया जैसे वह मृत्यु हो। दो द्वंद्व, जन्म और मृत्यु दोनों को एक साथ काली में इकट्ठा किया। एक तरफ वह जन्मदात्री है और दूसरी तरफ मृत्यु उसके हाथ से घटित हो रही है। और हड्डियों की खोपड़ियों की माला उसने गले में डाल रखी है।

कभी आपने अपनी मां को इस भाव से देखा। बहुत घबड़ाहट होगी। और अगर आप अपनी मां को इस भाव से नहीं देख सकते तो काली को आप मां कैसे कह सकते हैं! असंभव है। लेकिन जिन्होंने, जिन तांत्रिकों ने ये द्वंद्व को जोड़ने का ख्याल किया, बड़े अदभुत लोग थे। इसमें एक प्रतीक है। इसमें जन्म और मृत्यु एक साथ खड़े हैं। इसमें प्रेम और मृत्यु एक साथ खड़े हैं। इसमें मां का हृदय और मृत्यु के हाथ एक साथ खड़े हैं। मगर धीरे-धीरे यह रूप खोता चला गया। यह रूप आज अगर कभी आपको दिखाई भी पड़ता है तो सिर्फ परम्परागत है। इसकी धारणा खो गई। इसके हृदय में संबंध हमारे खो गए। हमने परमात्मा का तो सौम्य, सुन्दर रूप ही भला माना है। कृष्ण बांसुरी बजाते खड़े हैं, वे लगते हैं कि परमात्मा हैं। मौर-मुकुट बांधा हुआ है, उनके होठों पर मुस्कान है। वे लगते हैं कि परमात्मा हैं। उनसे हमें आश्वासन मिलता है, राहत मिलती है, सांत्वना मिलती है। हम वैसे भी बहुत दुखी हैं। काली को देखकर और उपद्रव क्यों खड़ा करना है। कृष्ण को देखकर सांत्वना, कंसोलेशन मिलता है कि ठीक है। इस जीवन में होगा दुख, इस जीवन में होगी मृत्यु। आज नहीं कल वह मुकाम आ जाएगा, जहां बांसुरी ही बजती रहती है—जहां सुख ही सुख है—जहां शांति ही शांति, जहां संगीत ही संगीत है—जहां फिर कुछ बुरा नहीं है। उसकी आशा बंधती है, उसका भरोसा बंधता है, मन को राहत मिलती है। तो जो हमारे पास नहीं है, जो जिन्दगी में खोया हुआ है, जिसका अभाव है—उसे हमने कृष्ण में पूरा कर लिया।

आपने कभी ख्याल किया कि हमने कृष्ण, राम, बुद्ध, महावीर, किसी के बुढ़ापे का चित्र नहीं बनाया। कोई बुढ़ापे की मूर्ति नहीं बनाई। ऐसा नहीं है कि ये लोग बूढ़े नहीं हुए। बूढ़े तो होना ही पड़ेगा। इस जमीन पर जो है, जमीन के नियम उस पर काम करेंगे। और ये जमीन के नियम किसी को भी छूट नहीं देते, यहां कोई छुट्टी नहीं है। और अगर इस जमीन के

नियमों में छुट्टी हो, तो फिर जगत बिल्कुल एक बेईमान व्यवस्था हो जाय।

यहां तो कृष्ण को भी बूढ़ा होना पड़ेगा, राम को भी होना पड़ेगा, बुद्ध को भी होना पड़ेगा, महावीर को भी होना पड़ेगा। लेकिन हमने उनको बूढ़ा नहीं बनाया। उससे यह पता नहीं चलता कि वे बूढ़े नहीं हुए। उससे यही पता चलता है कि बुढ़ापे से हम कितने भयभीत हैं, कितने डरे हुए हैं। और अगर बुद्ध को भी हम देखें—दांत टूटे हुए, लकड़ी टेकते हुए, तो फिर भगवान मानना बहुत मुश्किल हो जायगा। सुन्दर, युवा, जो सदा ही युवा हैं, उनका युवापन ठहर गया है, वह आगे नहीं बढ़ता। भगवान को बूढ़ा देखें, खखारते हुए, खांसते हुए, खाट पर, किसी अस्पताल में भर्ती! यह हमारे विश्वास के बाहर हो गए हैं। हमारी सारी श्रद्धा नष्ट हो जाएगी। और हमें लगेगा कि यह भी क्या बात हुई। कम से कम भगवान होकर तो ऐसा नहीं होना था।

तो भगवान, हम हमारी कामनाओं से निर्मित करते हैं। उनकी मूर्ति हम अपनी वासना से निर्मित करते हैं। उसका तथ्य से कम संबंध है, हमारी भावनाओं से ज्यादा संबंध है। देखते हैं आप : न दाढ़ी उगती राम को, न कृष्ण को, न बुद्ध को, न महावीर को। न मूंछ निकलती, न दाढ़ी निकलती है। जरा कठिन मामला है। कभी-कभी ऐसा होता है, कोई पुरुष मखन्नस होता है। कभी-कभी किसी पुरुष को दाढ़ी-मूंछ नहीं उगती; क्योंकि उसमें कुछ हारमोन की कमी होती है, वह पूरा पुरुष नहीं है। लेकिन, यह कभी-कभी होता है। सब अवतार हमने मखन्नस खोज लिये! जरा कठिन है, थोड़ा सोचने जैसा है।

जैनियों के चौबीस तीर्थंकर हैं। चौबीस तीर्थंकरों में किसी की दाढ़ी-मूंछ नहीं उगती। यह मामला मुश्किल है कि उन्होंने इतनी खोज कर ली हो। और हमेशा जब भी कोई तीर्थंकर हुआ तो वह ऐसा आदमी हुआ जिसमें हारमोन की कमी थी। यह बात नहीं है। दाढ़ी-मूंछ उगी ही है। लेकिन हमारा मन नहीं कहता कि दाढ़ी-मूंछ उगे। क्यों? क्योंकि वह दाढ़ी-मूंछ, जो उगे, तो फिर बुढ़ापा आएगा। वह जो दाढ़ी-मूंछ उगे, तो युवावस्था को ठहराना मुश्किल हो जाएगा। वह जो दाढ़ी-मूंछ उगे, तो वे फिर ठीक

हम जैसे हो जाएंगे। और हमारा मन कहता है कि वे हम जैसे न हों। हम अपने से बहुत परेशान हैं। हम अपने से बहुत पीड़ित हैं। वे हम जैसे न हों।

इसलिए हमने अपने अवतारों, अपने तीर्थंकरों, अपने पैगम्बरों में वे सब बातें जोड़ दी हैं—जो हम चाहते हैं हममें होतीं, और नहीं हैं। हम सुबह-शाम लगे हैं दाढ़ी छोलने में। वह हम चाहते हैं कि न हो। वह हम चाहते है कि न होती। और आदमी कल विज्ञान-व्यवस्था खोज लेगा कि पुरुष दाढ़ी-मूंछ से छुटकारा पा जाय। इतनी उत्सुकता दाढ़ी-मूंछ से छुटकारा पाने की भी बड़ी अजीब है और बड़ी विचारणीय है और बड़ी मनोवैज्ञानिक है, थोड़ी पैथालाजिकल है, थोड़ी रुग्ण भी है। पुरुष के मन में जो सौन्दर्य की धारणा है, वह स्त्री की है। उसको स्त्री का चेहरा सुन्दर मालूम पड़ता है। और स्त्री के चेहरे पर दाढ़ी-मूंछ नहीं है। वह सोचता है, सुन्दर होने का लक्षण दाढ़ी-मूंछ का न होना। मगर स्त्रियों को भी पूछो कि दाढ़ी-मूंछ न हो तो पुरुष का चेहरा सुन्दर सच में लग सकता है? लगना नहीं चाहिए। और अगर लगता है तो उसका मतलब—पुरुषों ने उनका दिमाग भी भ्रष्ट किया हुआ है। लगना नहीं चाहिए। प्राकृतिक रूप से स्त्री को दाढ़ी-मूंछ वाला चेहरा सुन्दर लगना चाहिए; जैसा पुरुष को गैर-दाढ़ी-मूंछ का चेहरा सुन्दर लगता है। थोड़ा सोचें कि आपकी पत्नी दाढ़ी-मूंछ लगाए हुए खड़ी है। तो जब आप गैर-दाढ़ी-मूंछ के खड़े हैं तब वही हालत हो रही है।

लेकिन, चूंकि पुरुष प्रभावी है और स्त्रियों के मन को उसने अपने ही सांचे में ढाल रखा है हजारों साल से कि स्त्रियां कह भी नहीं सकतीं कि तुम यह क्या कर रहे हो, क्यों स्त्री जैसे हुए जा रहे हो। स्त्रियां भी मानती हैं कि यह सुन्दर है। क्योंकि उनकी अपनी सुन्दरता की व्याख्या भी हमने नष्ट कर दी। स्त्री का हमने मन्तव्य ही समाप्त कर दिया है। पुरुष की ही धारणा उसकी भी धारणा है। जिसको पुरुष सुन्दर मानता है, वह भी सुन्दर मानती है।

तो सुन्दर की जो हमारी धारणा थी—हमने भगवान पर थोप दी है। लेकिन वे हमारी कामनाएं हैं। वे तथ्य नहीं हैं। तथ्य तो जीवन के साथ मृत्यु जुड़ी है, यह है। मृत्यु से हम भयभीत हैं। हम बचना

चाहते हैं। हम में से अधिक लोग आत्मा को अमर इसीलिए मानते हैं कि इसके सिवाय बचने का और कोई उपाय नहीं दीखता। उन्हें कुछ पता नहीं है कि आत्मा अमर है। उन्हें कुछ भी पता नहीं है कि आत्मा है भी। लेकिन फिर भी वे माने चले जाते हैं कि आत्मा अमर है। क्यों? भय है मृत्यु का। शरीर तो जाएगा यह पक्का है, कितना ही उपाय करो। तो बचने का अब एक ही उपाय है कि आत्मा अमर हो। इसलिए जैसे-जैसे आदमी बूढ़ा होता है, आत्मा में भरोसा करने लगता है। जवान आदमी कहता है, पता नहीं— है या नहीं। हो सकता है न भी हो। यह आदमी अभी समझ के नहीं बोल रहा। अभी जवानी का जोश बोल रहा है। थोड़ा हाथ-पैर ढीले पड़ने दें, भरोसा आने लगेगा। थोड़ी मौत करीब आने दें, दांत गिरने दें, भरोसा आने लगेगा। क्यों? इसलिए नहीं कि इसे कोई अनुभव हुआ जा रहा है। कोई बूढ़े होने से अनुभवी नहीं होता। अगर बूढ़े होने से दुनिया में अनुभव मिलता होता, तो सारे लोग कितनी दफे बूढ़े हो चुके हैं, अनुभव ही अनुभव होता। कोई अनुभव नहीं मिलता। लेकिन बूढ़े होने से भय बढ़ता है, मौत करीब मालूम पड़ने लगती है। अब इतना भरोसा नहीं मालूम पड़ता, पैरों में इतनी ताकत नहीं मालूम पड़ती। अब तर्क करने की सुविधा नहीं मालूम पड़ती। अब लगता है, अब तो ऐसा लगता है कि वह जो अंधविश्वासी कहते हैं, वही ठीक हो तो अच्छा है कि आत्मा हो। यह हमारा बिश-फुलफिलमेंट है—आत्मा हो। तो हम मानने लगते हैं कि आत्मा है।

जाएं मस्जिद में, मंदिर में, चर्च में; बूढ़े लोग और पुरुषों से भी ज्यादा बूढ़ी स्त्रियां वहां इकट्ठी हैं। क्योंकि पुरुष बूढ़ा भी हो जाय तो थोड़ा बहुत अपना पुरुषत्व, अकड़ कायम रखता है। स्त्रियां और जल्दी घबड़ा जाती हैं और मंदिर की तरफ चल पड़ती हैं। घबड़ाहट की वजह से, भय की वजह से आदमी मान लेता है—आत्मा अमर है। अनुभव की वजह से नहीं, क्योंकि अनुभव तो बड़ी और बात है। और अनुभव तो उसे उपलब्ध होता है, जो मृत्यु से भय छोड़ देता है और जीवन की वासना छोड़ देता है।

हम तो मृत्यु के भय से 'आत्मा अमर है' मान लेते हैं। हमें कभी पता नहीं चलेगा कि आत्मा है भी। उसी को पता चलेगा, जो मृत्यु का भय नहीं करता और जीवन का मोह नहीं करता। कौन है जो मृत्यु का भय नहीं

करे और जीवन का मोह न करे ? वही व्यक्ति जो जीवन और मृत्यु को एक की तरह देख ले, अनुभव कर ले ! और इसके लिए कहीं शास्त्र में जाने की जरूरत नहीं, और इसके लिए किसी महापुरुष, महाज्ञानी के चरणों में बैठने की जरूरत नहीं। जीवन काफी शिक्षा है।

जीवन और मृत्यु दो कहां हैं ? वे एक ही हैं। हमने अपने मोह में बांधा है दो में, वे एक ही हैं। कभी आपको पता है किस दिन जन्म समाप्त होता है और मृत्यु शुरू होती है। और किस दिन, किस सीमा पर जीवन समाप्त होता है, और मृत्यु का आगमन होता है। कहीं कोई विभाजन नहीं है, कोई वाटरटाइट कम्पार्टमेन्ट, कोई खंड-खंड बांटने का उपाय नहीं है। जीवन, मृत्यु एक ही चीज के दो नाम मालूम पड़ते हैं। एक ही घटना लिए दो शब्द मालूम पड़ते हैं। एक छोर जीवन, दूसरा छोर मृत्यु।

तो हम परमात्मा का रूप बनाते हैं—मोहक, सुन्दर ! हमने नाम जो रखे हैं वे सब ऐसे रखे हैं कि मन को लुभाएं। लेकिन जो दूसरा हिस्सा है, वह हमने काट रखा है।

अर्जुन भी भयभीत हुआ। इसलिए नहीं कि परमात्मा का भयंकर रूप है। बल्कि इसलिए कि आज तक उसने सोचा ही नहीं था कभी, यह कभी धारणा ही मन में न बनी थी कि यह भयंकर रूप भी परमात्मा का होगा। हम सोचते हैं यमराज को, भैंसे पर बैठे हुए विकराल दांतों वाला, काला आदमी, सींगों वाला, लेकिन हम कभी यमराज को परमात्मा के साथ एक करके नहीं देखते। यमराज—अलग ही मालूम पड़ता है उसका डिपार्टमेन्ट, वह सब अलग विभाग है। परमात्मा से हम उसको नहीं जोड़ते कि मृत्यु परमात्मा से आती है।

गीता के ये सूत्र बड़े कीमती हैं। इन्हें थोड़ा समझ लेना। यमराज कहीं भी नहीं, परमात्मा के मुंह में ही है। और यमराज कहीं किसी हाथी-घोड़े पर बैठकर, किसी भैंसे पर सवार होकर नहीं आने वाला है। परमात्मा के दांत, वे ही यमराज हैं।

यह देखकर अर्जुन घबड़ा गया है और वह कह रहा है :

"सारे लोग व्याकुल हो रहे हैं। मैं भी व्याकुल हो रहा हूं। क्योंकि हे विष्णु ! आकाश के साथ स्पर्श किए हुए देदीप्यमान अनेक रूपों से युक्त

तथा फैलाए हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देख कर भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धीरज और शान्ति को नहीं प्राप्त होता हूं।"

वह ठीक कह रहा है। वह कह रहा है आपकी वजह से मैं भयभीत हो रहा हूं, ऐसा नहीं। मैं भयभीत अंतःकरण वाला हूं, इसलिए भयभीत हो रहा हूं। आपके कारण भयभीत नहीं हो रहा हू। आप तो विशाल हैं, महान हैं, विष्णु हैं, महादेव हैं, आप तो परमेश्वर हैं। आपके कारण नहीं भयभीत हो रहा हूं, लेकिन मेरा अंतःकरण भय वाला है। इसे हम थोड़ा समझ लें।

हम सबके पास अंतःकरण भय वाला है। यह थोड़ा गहन है। और और आपको पता भी नहीं कि आपका अंतःकरण क्या है, कांशेन्स क्या है? आप चोरी करने से डरते हैं। भीतर कोई कहता है, चोरी बुरी है। आप पड़ोसी की स्त्री को भगा ले जाने से बचते हैं। भीतर कोई कहता है, यह बात बुरी है। किसी की हत्या करने से मन भय से कंपता है। भीतर कोई कहता है, हत्या पाप है, हिंसा बुरी है। कौन कहता है आपके भीतर? जो आपके भीतर बोलता है, यह अंतःकरण है। यह अंतःकरण वास्तविक नहीं है। क्योंकि वास्तविक अंतःकरण भय के कारण नहीं जीता, वास्तविक अंतःकरण तो ज्ञान के कारण जीता है। यह अंतःकरण सोशल प्रोडक्ट है, समाज के द्वारा पैदा किया गया है।

यह समाज—बच्चा पैदा होते से ही बच्चे में अंतःकरण पैदा करने में लग जाता है। क्योंकि समाज को भय है कि अगर बच्चे को ऐसे ही छोड़ दिया जाय, तो वह पशु जैसा हो जाएगा। और इस भय में सचाई है। अगर बच्चे को कुछ भी न कहा जाय तो वह पशु जैसा हो जाएगा।

तो समाज उसे बताना शुरू करता है। वह कहता है—अगर तुम ऐसा करोगे तो दंड पाओगे। अगर तुम ऐसा करोगे तो पुरस्कार पाओगे। अगर तुम ऐसा करोगे तो माता-पिता प्रसन्न होंगे; अगर तुम ऐसा करोगे दुखी होंगे, नाराज होंगे, कष्ट पाएंगे। धीरे-धीरे हम बच्चे में भय और लोभ के आधार पर अंतःकरण पैदा करते हैं। हम कहते हैं—तुम ऐसा करो, मां प्रसन्न है, पिता प्रसन्न हैं, सब लोग प्रसन्न हैं तुमसे। तुम ऐसा करो। और सब लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे। और सब तुम्हें निन्दित कर रहे हैं।

तो बच्चे को धीरे-धीरे समझ में आने लगता है, किस चीज से डरें। तो जिस-जिस चीज से मां-बाप डराते हैं उस-उस चीज से वह डरने लगता है। भय गहरे में बैठ जाता है, अंत:करण बन जाता है। इसलिए हर समाज का अंत:करण अलग-अलग होता है—हिन्दू का अलग, मुसलमान का अलग, ईसाई का अलग, जैन का अलग। आत्मा अलग-अलग नहीं होती। अंत:करण अलग-अलग होता है।

अब एक जैन है, वह मांसाहार नहीं कर सकता; क्योंकि बचपन से उसे कहा गया है कि महापाप है। तो अगर मांस सामने आ जाय तो भीतर उसके हाथ-पैर कंपने लगेंगे। इसलिए नहीं कि मांस को देखकर कंपते हैं। क्योंकि दूसरा मुसलमान बैठा है, उसके नहीं कंप रहे हैं। तो मांस में कंपाने वाली कोई बात नहीं। कंप रहे हैं अंत:करण के कारण। और इसी बच्चे को अगर एक मांसाहारी घर में रखा जाता, तो इसके भी नहीं कंपते। और अगर एक मांसाहारी बच्चे को गैरमांसाहारी घर में रखा जाता है, तो उसके भी कंपते। वह जो अंत:करण बचपन से पैदा किया गया है, वह जो भय है कि क्या गलत है—वह नहीं करना। उसे देखकर यह कंप रहा है। यह वास्तविक अंत:करण नहीं है। यह सामाजिक व्यवस्था है।

इसलिए एक समाज में अगर चचेरी बहन से शादी होती है, तो कोई अड़चन नहीं है। चचेरी बहन से शादी हो जाती है किसी को कोई तकलीफ नहीं होती। और दूसरे समाज में उसी के पड़ोस में चचेरी बहन से शादी करने की बात ही महापाप हो सकती है। कोई सोच भी नहीं सकता कि बहन से भी वह प्रेम कर सकते हैं। संभव ही नहीं है। और उसको पत्नी बना सकते हैं। यह तो बिल्कुल कल्पना के बाहर है। यह अंत:करण है। जब तक दुनिया में बहुत समाज हैं, बहुत सम्प्रदाय हैं तब तक बहुत अंत:करण होंगे। और इन अंत:करण के कारण बड़ा उपद्रव है। और दुनिया तब तक एक नहीं हो सकती जब तक हम कोई एक युनिवर्सल कांशेन्स पैदा न कर लें—तब तक दुनिया एक नहीं हो सकती। लाख लोग सिर पटकें कि हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई, लाख लोग सिर पटकें कि हिन्दी-चीनी भाई-भाई, यह असम्भव है। क्योंकि भाई-भाई तब तक नहीं हो सकते जब तक भीतर के अंत:करण भिन्न-भिन्न हैं। तब तक सब ऊपरी होगा, थोथा, दिखावा। मौके पर सब कलई खुल जाएगी और दुश्मन बाहर निकल आएंगे। ऊपर से होगा, क्योंकि वह जो भीतर अंत:करण बैठा है, वह भेद निर्मित कर रहा है।

अर्जुन कहता है—मेरे अंतःकरण के कारण मैं भयभीत हो रहा हूं; आपके कारण नहीं। और ठीक कह रहा है। यह उसका निरीक्षण बिल्कुल उचित है। अंतःकरण में आज तक उसने यही जाना है कि परमात्मा सौम्य है, सुन्दर है, प्रीतिकर, आनन्दपूर्ण है, सच्चिदानन्द है, आनन्द-घन है। अब तक उसने यही जाना है। मृत्यु भी परमात्मा है—यह उसने न सुना है, न जाना है।

इसलिए बचपन से बना हुआ अंतःकरण परमात्मा की एक प्रतिमा लिए है, वह प्रतिमा खंडित हो रही है। इसलिए वह व्यथित है। और न केवल वह कहता है, मैं व्यथित हूं, सारे लोग व्यथित हैं। यह रूप बहुत घबड़ाने वाला है।

"और हे भगवन्! आपके विकराल जाड़ों वाले और प्रलयकारी अग्नि के समान प्रज्ज्वलित मुखों को देखकर, दिशाओं को नहीं जानता हूं और सुख को भी प्राप्त नहीं होता हूं, दिशा-भ्रांति हो गई। अब मुझे पता नहीं कि उत्तर कहां है, दक्षिण कहां है, पूर्व कहां है।"

वह यह कह रहा है कि अब मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा है, मेरा सिर घूम रहा है। दिशाएं पहचान में नहीं आतीं कि क्या, क्या है। यह तुम्हारा रूप देखकर दिशाएं भ्रान्त हो गईं, मेरे पथ खो गए, मेरा मार्ग धुएं से भर गया है और जरा भी सुख को प्राप्त नहीं होता हूं। यह जो आपको देख रहा हूं, आप भगवान हैं। वह कह रहा है, आप भगवान हैं, आप परमेश्वर हैं फिर भी आपका यह रूप देखकर जरा भी सुख को प्राप्त नहीं होता हूं। आपकी इस स्थिति को देखकर जरा भी मुझे सुख के लिए सहारा नहीं मिलता है।

"इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें।"—यह कह रहा है कि आप कृपा करें और यह रूप तिरोहित कर लें। और वह जो प्रसन्नवदन, वह जो मुस्कुराता हुआ आनंदित रूप था, आप उसमें वापस लौट आएं। आदमी का मन आखीर तक, अंत तक भी परमात्मा पर अपने को थोपना चाहता है। अंत तक भी परमात्मा जैसा है उसे वैसा ही स्वीकार कर लेने की तैयारी नहीं होती—अन्त तक।

साधक की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि वह परमात्मा पर भी अपने को थोपता है। और तब तक सिद्ध नहीं हो पाता, जब तक परमात्मा

'जैसा भी हो', उसको वैसा ही स्वीकार कर लेने की स्थिति न आ जाय। अभी अर्जुन थोड़ा-सा विनम्र है, निवेदन कर रहा है कि प्रसन्न हो जाएं, यह हटा लें—यह प्रज्ज्वलित, प्रलयंकारी रूप अलग कर लें। मुख पर थोड़ी मुस्कुराहट ले आएं। आपके चेहरे पर हंसी को देखकर, आनन्द को देखकर मुझे सुख होगा।

इसे ख्याल में लें। जब तक आप सोचते हैं कि परमात्मा ऐसा होना चाहिए, जब तक आपकी परमात्मा की कोई धारणा है तब तक आप परमात्मा को नहीं जान पाएंगे। तब तक जो भी आप जानेंगे, वह परदा होगा। अगर आपको परमात्मा को ही जानना है तो आपको अपनी सारी धारणा अलग कर देनी होगी। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, सब हटा देने होंगे। आपको निपट परमात्मा को शून्य की तरह जानने के लिए खड़ा हो जाना पड़ेगा। अपना अंतःकरण, अपने भरोसे, विश्वास, अपनी दृष्टि सब हटा देनी होगी। और जैसा भी हो, विकराल हो, मृत्यु हो, अमृत हो, जो भी हो उसके लिए राजी हो जाना होगा।

जब भी कोई व्यक्ति ऐसी स्थिति में राजी हो जाता है, तो परमात्मा के दोनों रूप खो जाते हैं—विकराल भी, सौम्य भी। और जिस दिन ये दोनों रूप खोते हैं उस अनुभव को हमने ब्रह्म अनुभव कहा है। इस फर्क को थोड़ा समझ लें। यह ईश्वर का अनुभव है जब तक ये दो रूप हमें दिखाई पड़ते हैं। जिस दिन ये दो रूप भी नहीं दिखाई पड़ते, दोनों में चुनाव नहीं रह जाता, उसी दिन दिखाई नहीं पड़ते। उस दिन जो रह जाता है—वह ब्रह्म है।

भारत ने बड़ी साहस की बात कही है। भारत ने ईश्वर को भी माया का हिस्सा कहा है। यह सुनकर आपको कठिनाई होगी। भारत कहता है, ईश्वर भी माया का हिस्सा है। ईश्वर-अनुभव भी माया का हिस्सा है—ब्रह्मानुभव। क्योंकि ईश्वर में भी रूप है। और ईश्वर के साथ भी हमारा लगाव है—अच्छा-बुरा, ऐसा हो, ऐसा न हो।

भक्त भगवान को निर्मित करते रहते हैं, जाते रहते हैं। मंदिरों में ही नहीं, मंदिरों में तो वे सजाते ही हैं; क्योंकि भगवान बिल्कुल अवश है—वह कुछ कर नहीं सकता, जो करना चाहो करो। लेकिन यह अर्जुन ठेठ

भगवान के सामने खड़े होकर भी कह रहा है कि ऐसा अच्छा होगा। मुझे सुख मिलेगा आप जरा प्रसन्न हो जाएं। यह रूप हटा लें, यह तिरोहित कर लें। यह क्या कर रहा है? यह कह रहा है कि अभी भी केन्द्र मैं हूं, मेरा सुख। आप ऐसे हों, जिसमें मुझे सुख मिले। मैं ऐसा हो जाऊं, जिसमें आप आनंदित हों—ऐसा नहीं। मैं आनंदित होऊं, ऐसे आप हो जाएं। यह आखिरी राग है। और तब तक शेष रहता है जब तक हम माया की आखिरी परिधि ईश्वर को पार नहीं कर लेते।

शंकर ने कहा है कि ईश्वर माया का हिस्सा है, इसलिए ईश्वर के अनुभव को भी अंतिम अनुभव मत समझ लेना। यहीं कठिनाई खड़ी हो जाती है। ईसाइयत, इस्लाम, शंकर की बात से व्यथित हो जाते हैं। हिन्दू, साधारण चित्त भी व्यथित हो जाता है; क्योंकि ईश्वर हमारे लिए लगता है—आखिरी। भारत की मनीषा के लिए ईश्वर भी आखिरी नहीं है। आखिरी तो वह स्थिति है, जहां कहने को इतना भी शेष नहीं रह जाता कि आनंद है, कि दुख है, कि मृत्यु है, कि जीवन है। सब भेद गिर जाते हैं। सारी रेखाएं खो जाती हैं।

अर्जुन कहता है, "हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें। और मैं देखता हूं कि वे सब ही धृतराष्ट्र के पुत्र, राजाओं के समुदाय, आप में प्रवेश करते हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा कर्ण। और हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं के सहित सब के सब वेग-युक्त हुए आपके विकराल जाड़ों वाले भयानक मुख में प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दांतों के बीच में लगे हुए दीखते हैं।

और हे विष्णु मूर्ति! जैसे नदियों के बहुत से जल के प्रवाह समुद्र के ही सन्मुख दौड़ते हैं और समुद्र में प्रवेश करते हैं वैसे ही वे शूरवीर मनुष्यों के समुदाय भी आपके प्रज्ज्वलित हुए मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।"

कहता है कि आपके दांतों में दबे हैं और न केवल दबे हैं, उनके सिर चूर्ण हो गए; जैसे, आपने उनका भोजन कर लिया हो। और वे आपके दांतों में चिपक कर रह गए हैं। और वे मनुष्य, बलशाली लोग, जिनके लिए कल्पना भी नहीं कर सकता अर्जुन। भीष्म पितामह—इतना बलशाली व्यक्ति, वह भी जाकर चूर्ण हो जाएगा—मृत्यु के मुख में पड़कर। द्रोणाचार्य उसका गुरु, वह भी इस तरह असहाय होकर दांतों में चिपट जाएगा। कर्ण,

उस विपरीत शत्रुओं के वर्ग का सबसे शूरवीर पुरुष, वह भी ऐसा दयनीय हो जाएगा। और न केवल धृतराष्ट्र के पुत्र, मेरे पक्ष के लोग भी आपके दांतों में दबे मर रहे हैं, चूर्ण हुए जा रहे हैं। न केवल इतना ही; बल्कि जो बाहर हैं, वे तेजी से दौड़ रहे हैं आपके मुंह की तरफ; जैसे नदियां सागर की तरफ दौड़ती हैं। बहुत भय लगता है। अर्जुन कहता है, बहुत व्यथा होती है.. हंसें...बन्द कर लें यह मुंह।

हम सभी दौड़ रहे हैं मृत्यु की तरफ, जैसे नदियां दौड़ती हैं। और अगर यह सारा जगत, यह सारा जगत अगर शरीर है, तो निश्चित ही इस जगत के मुंह में कहीं दांतों के नीचे दबकर हम सब चूर्ण हो जाएंगे। और फिर कौन! भीष्म हों, कि द्रोणाचार्य, कि कर्ण, या कि अर्जुन, कोई भी हो, वे सभी चूर्ण हो जाएंगे। और जो नहीं चूर्ण हो रहे हैं, वे भी दौड़ रहे हैं; बड़ा श्रम उठा रहे हैं, भागे जा रहे हैं—कुछ उपलब्धि के लिए। हम सबको यह ख्याल है कि जिन्दगी में कुछ पा लेंगे। और आखिर में सिवाय मौत के हम कुछ भी नहीं पाएंगे। लगता है न मालूम क्या पा लेंगे और पाते सिर्फ मौत हैं, और कुछ भी नहीं पाते। लाख करें उपाय, आदमी कब्र के सिवाय कहीं और पहुंचता नहीं है—कोई और दूसरी मंजिल नहीं। और कितना ही इकट्ठा करें, कितनी ही उपलब्धियां, कितना ही सोचें, विचारें, योजना बनाएं, आखिर में पहुंच जाता है आदमी मृत्यु के मुंह में, बिना योजना बनाए। बचता है तो भी नहीं बच पाता। शायद बचने की कोशिश में भी वहीं पहुंच जाता है।

अर्जुन को इस जीवन की पूरी की पूरी मृत्यु में दौड़ती हुई धारा दिखायी पड़ गई। वह भयभीत न होता, अगर उसे ऐसा दिखाई पड़ता कि मृत्यु कहीं और घटित हो रही है, परमात्मा के मुंह में नहीं। तो इतना भयभीत न होता, कम से कम परमात्मा से सहारा मिल सकता था—मृत्यु के विपरीत भी, अगर मृत्यु कहीं और घट रही थी। अगर कोई शैतान, कोई यमदूत, मृत्यु को ला रहा था तो परमात्मा बचाने वाला हो सकता था। अब तो बचाने का भी कोई उपाय नहीं है, क्योंकि यह परमात्मा का ही मुंह है जहां मृत्यु घटित हो रही है। इससे भयभीत हुआ। अगर आपको भी यह पता चल जाय कि आपके दुख का कारण परमात्मा ही है, आपकी मृत्यु का कारण परमात्मा ही है, तो भय और भी ज्यादा संतप्त कर देगा। हम कई तरकीबें निकालते हैं। हम कहते हैं कि दुख का कारण दुष्ट आत्माएं

हैं। दुख का कारण है—शैतान इबिलश, बीलजबब। हमने शैतान के हजार नाम खोज रखे हैं, वे हैं। दुख का कारण पिछले जन्मों के कर्म हैं। ये मृत्यु कोई परमात्मा के कारण नहीं हो रही, यह तो शरीर क्षण-भंगुर है इसके कारण हो रही। हम हजार तरकीबें खोजते हैं। परमात्मा को बचाते हैं। उससे हमारे मन में एक तो राहत रहती है कि सब कुछ हो।

सुना है मैंने, कबीर ने एक पद लिखा कि चलती चक्की देखकर मैं बहुत घबड़ा गया। क्योंकि उस चलती चक्की के बीच जो भी दाने दब गए, वे चूर्ण हो गए। और कबीर ने कहा है कि मुझे ऐसा लगा, यह सारा जगत एक चलती चक्की है, जिसके भीतर सब पिसे जा रहे हैं। कबीर का लड़का था—कमाल। कमाल अक्सर कबीर के विपरीत बातें कहा करता था। अक्सर बेटे बाप के विपरीत कहा करते हैं। और बेटा भी क्या जो बाप के विपरीत थोड़ा बहुत न हो। उसमें नमक ही नहीं है, जान ही नहीं। कबीर का बेटा था, इसलिए जानदार तो था ही। कबीर ने उसको नाम दिया था—कमाल। वह कबीर के खिलाफ पद लिखा करता था।

तो कबीर ने जब यह लिखा कि दो चक्की के बीच मैंने किसी को बचता हुआ नहीं देखा। तो कमाल ने एक पद लिखा कि ठीक है यह तो, लेकिन जिसने बीच की डंडी का सहारा पकड़ लिया, चक्की में, वह बच गया। वह डंडी हमारे लिए परमात्मा है। उसमें भी, वही मतलब था उसका कि जिसने राम का सहारा ले लिया वह बच गया, बाकी सब पिस गए। अब यह बेचारे ने—अगर अर्जुन ने—कमाल की पंक्ति पढ़ी होती। नहीं पढ़ी होगी, क्योंकि कमाल बहुत बाद में हुआ। तो यह घबड़ा जाएगा कि यह मामला क्या है? हम तो सोचते थे तुम बीच की डंडी हो, जिसके सहारे बचेंगे, पर तुम्हारे मुंह में ही मौत घट रही है। तो जिन्हें अपना समझा था, जिनके सहारे सोचते थे मौत से लड़ लेंगे और जिनके सहारे सदा सोचा था कि कोई भय नहीं, बचाने वाला है, उसके ही मुंह में मौत घट रही है। रक्षक जिसे समझा था वह भक्षक दिखायी पड़ गया हो, तो हम सोच सकते हैं अर्जुन की घबड़ाहट कैसी रही होगी। वह घबड़ाहट स्वाभाविक है। लेकिन स्वाभाविक इसलिए है कि हमने परमात्मा का जो रूप बनाया है, वह अपनी मनोनुकूल आकांक्षा से बनाया है। वह परमात्मा का रूप नहीं, हमारी वासनाओं का रूप है। मृत्यु भी परमात्मा में ही घटित होती है और जीवन भी उसमें ही घटित होता है। वही मां भी है, वही मृत्यु भी।

इसलिए काली की प्रतिमा बड़ी सार्थक है। उससे ही सब निकलता है और उसमें ही सब लीन होता है। सागर में सारी नदियां गिरती हैं और सारी नदियां सागर से ही पैदा होती हैं। सारी नदियां सागर से पैदा होती हैं फिर चढ़ती हैं नदियां धूप की किरणों के सहारे बादलों में। फिर बादलों के सहारे पहाड़ों पर, फिर गंगोत्रियों में गिरती हैं और फिर सागर की तरफ दौड़ती हैं।

जो नदी सागर में अपने को गिरते देखती होगी वह घबड़ा जाती होगी, मिट रही है—मौत है सागर। लेकिन उसे पता नहीं कि यह सागर मौत भी है, गर्भ भी; क्योंकि कल फिर उठेगी ताजी होकर, नई होकर, युवा होकर। बूढ़ी हो गई, बासी हो गई, जमीन ने गंदी कर दी। सब गंदगी सागर छांट देगा। फिर ताजा, फिर शुद्ध, फिर वाष्पीभूत होगी, फिर गंगोत्री, फिर यात्रा शुरू होगी। यह वर्तुल है। सागर : नदी की मृत्यु भी है, जन्म भी। परमात्मा सृष्टि भी है, प्रलय भी। वहां होना भी है और न होना भी।

इससे अर्जुन भयभीत हो गया है। और वह कहता है, वापस लौटा लो इस रूप को, मत दिखाओ—यह रूप प्रीतिकर नहीं। इससे मुझे जरा भी सुख नहीं मिलता। फिर भी वह कहे चले जा रहा है—भगवान, परमेश्वर, महादेव, देवों के देव। थोड़ा हम उसका द्वंद्व, उसकी दुविधा समझें। वह अनुभव तो कर रहा है कि यह भी परमात्मा का ही रूप है। लेकिन मन मानना नहीं चाहता कि यह भी रूप है। वह कहता है, हटा लो, प्रसन्न हो जाओ। यह रूप नहीं देखा जाता।

यह अर्जुन की ही दुविधा नहीं है। जो व्यक्ति भी परम अनुभव के निकट पहुंचते हैं और ईश्वर-अनुभूति को उपलब्ध होते हैं, उनकी यही दुविधा है।

सुना है मैंने, मुसलमान फकीर जुन्नेद एकरात प्रार्थना किया कि हे प्रभु, मैं जानना चाहूंगा कि इस मेरे गांव में सबसे पवित्र आदमी कौन है? सबसे ज्यादा पुण्यात्मा? ताकि मैं उसके चरणों में सिर रखूं, उसका आशीर्वाद पाऊं। रात उसने स्वप्न देखा। बहुत घबड़ा गया, नींद टूट गई उसकी। स्वप्न में उसे दिखाई पड़ा कि परमात्मा कहता है, वह जो तेरे पड़ोस में रहता है आदमी, वही सबसे ज्यादा पवित्र और पुण्यात्मा है। वह एक बिलकुल साधा-

रण आदमी था। जुन्नेद ने कभी उस पर नजर भी नहीं डाली थी। पांव छूना तो दूर, वह उसके पांव छूता था। वह जो बगल में रहता था, वह इसके पांव छूता था। जब भी यह निकलता था तो इसको नमस्कार करता था। इसको वह महात्मा मानता था। वह तो बहुत, जुन्नेद मुश्किल में पड़ गया कि इसके मैं पांव छूऊं और यह भी क्या मजाक रही। हमने पूछा, पवित्रतम आदमी, इससे तो हम ही ज्यादा पवित्र हैं। यह खुद हमारे पैर छूता है।

अक्सर जिनके लोग पैर छूते हैं, वे सोचते हैं कि हम ज्यादा पवित्र हैं, क्योंकि लोग हमारे पैर छूते हैं। और हो यह सकता है कि जो पैर छूता है, वह ज्यादा पवित्र भी हो सकता है; क्योंकि पैर छूना भी एक गहरी पवित्रता है—वह भी एक बड़े विष्कलुष हृदय का लक्षण है। पर जब आदेश हो गया परमात्मा का, तो मुसीबत हो या कुछ भी हो, जुन्नेद उठा, अपने को संभाला, संयम से साधा, निकला घर के बाहर कि पैर तो छूने पड़ेंगे और आदेश परमात्मा का हुआ। देखा कि कोई नहीं है, अकेला बैठा है वह आदमी, जल्दी जाकर उसके पैर छू लिए कि कोई देख न ले गांव में कि इसके तू पैर छू रहा है जुन्नेद। पूरा गांव उसको महात्मा मानता था। उस आदमी ने कहा कि मेरे पैर छू रहे हैं; कुछ भूल-चूक हो गई, कुछ मुझसे नाराज हो। ऐसा मैंने क्या पाप किया? उस आदमी ने कहा कि आप और मेरे पैर छुओ! नहीं, नहीं वापस लें! आपका दिमाग तो नहीं खराब हो गया, उस आदमी ने कहा, जुन्नेद, तुम जैसा साधु पुरुष मुझ जैसे असाधु के पैर छुए!

जुन्नेद कुछ बोला नहीं। उसने कहा बताना ठीक भी नहीं कि मामला क्या है, क्योंकि झंझट में पड़ गए परमात्मा से पूछकर। एक दफे छू लिया बात खत्म हो गई।

रात उसने फिर परमात्मा को कहा, एक मर्जी और पूरी कर दें। एक तूने पूरी कर दिया। अब मैं जानना चाहता हूं, इस गांव में सबसे बुरा, सबसे शैतान, सबसे पापी आदमी कौन है? उसका भी तो पता चल जाय।

परमात्मा फिर रात सपने में प्रकट हुआ। उसने कहा कि वही आदमी जो तेरे पड़ोस में रहता है। और कल सुबह उठकर तू उसके पैर छू आना। अब तो और मुसीबत हो गई। कल तो पैर छूना आसान भी था, कम से कम परमात्मा ने कहा था। भरोसा तो नहीं आ रहा था, फिर भी परमात्मा ने

कहा था कि आदमी पवित्र है, तब पैर छूना तब भी मुसीबत थी। और अब यह आदमी सबसे बड़ा पापी है, परमात्मा कहता है, और अब उसके पैर छू लूं। और फिर जुन्नेद ने कहा, यह क्या खेल है मालिक! यही आदमी पवित्र और यही आदमी पापी! यह एक ही आदमी है। उसे आवाज सुनाई पड़ी कि जिस दिन तू दोनों को एक साथ देख पाएगा, बस उसी दिन तू मुझे देख पाएगा, उसके पहले नहीं।

वह जो बुरा है, वह जो भला है; वह जो शुभ है, वह जो अशुभ है; प्रीतिकर, अप्रीतिकर—जिस दिन हम दोनों को एक में देख पाते हैं, उसी दिन, उसी दिन हम पार होते हैं—द्वंद्व के।

अर्जुन की तकलीफ यही है कि वह द्वंद्व के पार होने के किनारे खड़ा है। वह कृष्ण से कहता है, लौटा लो, वापस हो जाओ। वही रूप ठीक था। तुम जैसे थे—वही...हंसो...मुस्कराओ। यह मृत्यु वाला रूप मुझे जरा भी सुख नहीं देता है, हालांकि उसे अनुभव हो रहा है कि यह भी उनका ही रूप है। अगर वह आज राजी हो जाय इस रूप के लिए, तो द्वंद्व के इसी क्षण पार हो जाय; लेकिन अर्जुन इस क्षण तक राजी नहीं हो सका, और वापस द्वंद्व में गिरने के आग्रह कर रहा है।

□ संकलन : *अरविन्दकुमार*

★

कैसे करें बता दे,
अपने हृदय का अर्पण ?
हमसे न होगा कुछ भी,
तू ही करा समर्पण !

□

स्वामी शैलेन्द्र सरस्वती

ला ओ त्से

पर बोलना

मैंने क्यों चुना ?

▽

१८ जून १९७३ को बम्बई में लाओत्से के 'ताओ-तेह-किंग' पर अपनी दसवीं प्रवचनमाला शुरू करते हुए भगवान रजनीश अध्यात्म-जगत की कुछ महत्वपूर्ण गुह्य सूचनाओं को पहली दफा प्रकाश में लाये, जो यहां प्रस्तुत हैं ।

△

लाओत्से पर बोलना मैंने क्यों सुना ? कुछ जरूरी कारणों से। लाओत्से की परम्परा करीब-करीब नष्ट होने की स्थिति में है। चीन लाओत्से की सारी व्यवस्था को, उसकी चिन्तना को, उसके आश्रमों को, उसके संन्यासियों को, सबको आमूल नष्ट करने में लगा है।

कोई तीन हजार वर्ष पहले एक संघर्ष था। चीन में दो जीवन-धारणाएं थीं, एक कनफ्यूशियस की और एक लाओत्से की। बहुत गहरे में देखें तो दुनिया में जितनी विचार-धाराएं हैं, उनको इन्हीं दो हिस्सों में बांटा जा सकता है।

कनफ्यूसस मानता है नियम को, व्यवस्था को, शासन को, संस्कृति को। लाओत्से मानता है प्रकृति को। संस्कृति को नहीं, नियम को नहीं; व्यवस्था को नहीं, स्वभाव को, सहजता को, सहज स्फूर्त जीवन को मानता है। अनुशासन को नहीं मानता है, क्योंकि सभी अनुशासन, जो जीवन का स्वभाव है, उसे नष्ट करता है; वरन् वह सहज स्वभाव को मानता है।

दुनिया की सारी चिन्तन-धाराएं दो हिस्सों में बांटा जा सकती हैं। एक वह जो मनुष्य को अच्छा बनाना चाहती है और एक वह जो मनुष्य को

सहज बनाना चाहती है। एक वह जो मनुष्य को पूर्ण बनाना चाहती है; कोई प्रतिमा, कोई आदर्श है, जिसके अनुकूल मनुष्य को ढालना है। और एक वह जो मनुष्य को स्वाभाविक बनाना चाहती है। कोई आदर्श नहीं, कोई प्रतिमा नहीं, जिसके अनुसार मनुष्य को ढालना है।

लाओत्से दूसरी परम्परा में अग्रणी हैं।

लाओत्से के समय में भी उसके विचार को नष्ट करने का बहुत उपाय किया गया। कनफ्यूशियस को मानने वालों ने सब तरह से उस विचार का अंकुर ही न पनप पाए, उसकी चेष्टा की। क्योंकि कन्फ्यूशियस के लिए इससे बड़ा कोई खतरा नहीं हो सकता।

लाओत्से कहता है कि कोई नियम नहीं चाहिए, क्योंकि सभी विकृति हैं। लाओत्से कहता है स्वभाव, सहजता चाहिए। उसमें ऐसा बहे मनुष्य, जैसे कि नदियां सागर की तरफ बहती हैं। रास्ते बनाने की जरूरत नहीं, क्योंकि सभी रास्ते मनुष्य के साथ जबरदस्ती करते हैं। और नियम बनाना खतरनाक है, क्योंकि सभी नियम हिंसा करते हैं।

लाओत्से कहता है कि अगर मनुष्य को उसके आन्तरिकतम केन्द्र के अनुसार छोड़ दिया जाए, तो जगत में कुछ भी बुरा न होगा। मनुष्य को अच्छा बनाने की जरूरत नहीं है; मनुष्य को उसके आंतरिक स्वभाव के साथ छोड़ देने की जरूरत है। चेष्टा की जरूरत नहीं है; क्योंकि चेष्टा विकृति में ले जायेगी।

स्वभावतया कनफ्यूशियस के लिए अति कठिन थी यह बात। कनफ्यूशियस के चिन्तन में यह लगेगा कि यह आदमी सारे जगत को अराजकता में ले जायेगा, अनारकी में ले जाएगा। और यह आदमी तो सब नष्ट कर देगा। और यह आदमी तो सब नष्ट कर देगा। समाज, संस्कृति, इन सबका क्या होगा? नीति, सदाचार, नियम, इनका क्या होगा? तीन हजार सालों से कनफ्यूशियस को माननेवाले—लाओत्से के संन्यासियों को, उसके शास्त्रों को, उसकी धारा में बहनेवाले लोगों को, उखाड़ने में, सब तरह से उनकी जड़ें न जमने पाएं चीन में, उसकी चेष्टा में लगे रहे।

और लाओत्से के अनुयायी तो संघर्ष भी नहीं कर सकते; क्योंकि संघर्ष में भी उनकी कोई आस्था नहीं है। उनकी आस्था तो समर्पण में है।

वे तो नहीं मानते कि किसी से उनका विरोध है। इसलिए किसी से उनका कोई विरोध नहीं है। इसलिए उन्होंने कोई संघर्ष नहीं किया।

फिर भी वे जीवित रहे।

लेकिन माओत्सेतुंग ने उनकी सारी व्यवस्था को आमूल तोड़ डाला। माओत्सेतुंग कनफ्यूशियस से सहमत था। और अगर हम ठीक से समझें तो कम्यूनिज्म कनफ्यूशियस से सहमत होगा ही। कनफ्यूशियस कहता है कि समाज के हाथ में नियंत्रण चाहिए। लाओत्से कहता है कि व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र है, किसी के हाथ में उसका नियंत्रण नहीं है। कनफ्यूशियस से जो धारा चलती थी, वह माओत्सेतुंग में आकर पूरी हो गई। और माओत्सेतुंग के हाथ में पूरी ताकत है। तो आज, जहां हजारों आश्रम थे लाओत्से के, वहां एक भी आश्रम खोजना मुश्किल है। एक-दो आश्रम बचाकर रखे गए हैं म्यूजियम की तरह, जो अतिथियों को दिखाए जाते हैं।

लाओत्से को माननेवाले संन्यासियों पर मुकदमे चले, अदालतों में उन्हें घसीटा गया, मारा-पीटा गया, उनकी हत्या की गई। स्वभावतः माओत्सेतुंग की दृष्टि से लाओत्से के अनुयायी तो सुस्त-काहिल हैं।

क्योंकि लाओत्से कहता है, 'करने में' हमारा कोई भरोसा ही नहीं है। हमारा 'न करने में' भरोसा है। लाओत्से कहता है कि करने से क्षुद्र ही पाया जाता है; केवल न करने से विराट की उपलब्धि हो सकती है। अकर्म, कर्म नहीं। क्योंकि कर्म से आदमी क्या पा सकता है? और कर्म से आदमी जो भी पायेगा, वह संसार का होगा। अकर्म से आदमी डूबता है अपने में, कर्म से जाता है संसार में। और जब कोई कुछ भी नहीं करता, तब उसके भीतर उसकी जीवन-चेतना अपनी पूरी सुगन्ध में खिलती है। लाओत्से कहता है कि अकर्म है जीवन का सिद्धांत।

स्वभावतः उसके संन्यासी माओत्सेतुंग की भाषा में शोषक हैं, मुफ्त-खोर हैं। वे कुछ करते नहीं। और कर्म जरूरी है।

इसलिए भी मैंने लाओत्से पर विचार कर लेना जरूरी समझा। क्योंकि यह हो सकता है कि आने वाले दिनों में लाओत्से का एक भी संन्यासी खोजना मुश्किल हो जाये। और चीन के कम्यूनिज्म का हमला भयंकर है।

न केवल चीन से, बल्कि तिब्बत से भी सारी सम्भावनाओं को विनष्ट करने की सारी चेष्टाएं चीन ने कीं।

तिब्बत में भी लाओत्से और बुद्ध को मान कर चलने वाला एक वर्ग था। शायद पृथ्वी पर अपनी तरह का अकेला ही मुल्क था तिब्बत, जिसको कि हम कह सकते हैं कि पूरा का पूरा देश एक आश्रम था। जहां धर्म मुख्य था और बाकी चीजें गौण थीं, जहां हर चार आदमी के बीच एक संन्यासी था और ऐसा कोई भी घर नहीं था जिसमें संन्यासियों की लम्बी परम्परा न हो। जिस बाप को चार बेटे होते, वह एक बेटे को तो निश्चित ही संन्यास की तरफ भेज देता था, क्योंकि वही परम था।

लेकिन चीन ने तिब्बत को भी अपने हाथ में ले लिया। और तिब्बत में संन्यास की परम्पराएं बुरी तरह तोड़ डाली गईं। कोई सम्भावना नहीं दिखती कि तिब्बत बच सकेगा।

दलाई लामा तिब्बत से जब भागे, तब चीन की पूरी कोशिश थी कि दलाई लामा तिब्बत से हट न पायें। उन्नीस सौ उनसठ में जिन्हें भी धर्म के गुह्य रहस्य से परिचय है, उन सबके लिए एक ही खयाल था कि दलाई लामा किसी तरह से तिब्बत से बाहर आ जाएं और उनके साथ तिब्बत के बहुमूल्य ग्रन्थ और तिब्बत के कुछ अनूठे साधक और संन्यासी भी तिब्बत से बाहर आ जाएं। लेकिन बाहर आ सकेंगे, यह असम्भावना थी। कोई चमत्कार हो जाए तो ही बाहर आने का उपाय था, क्योंकि दलाई लामा के पास कोई आधुनिक साज-सामान नहीं था; कोई फौज, कोई बम, कोई हवाई जहाज, सुरक्षा का कोई उपाय नहीं था। और चीन ने पूरे तिब्बत पर कब्जा कर लिया है।

दलाई लामा का तिब्बत से निकल आना बड़ी अनूठी घटना है। क्योंकि हजारों सैनिक पूरे हिमालय में सब रास्तों पर खड़े हैं। और कोई सौ हवाई जहाज पूरे हिमालय पर नीची उड़ानें भर रहे थे कि कहीं कोई दलाई लामा का काफिला तिब्बत से बाहर न निकल पाए। एक चमत्कार हुआ। कुछ चमत्कार तो आपने भी सुने हैं। मुहम्मद, बुद्ध, महावीर के सम्बन्ध में सुने हैं। वे बहुत पुरानी घटनाएं हो गईं। सुना है आपने कि मुहम्मद जब चलते थे, तो उनके ऊपर अरब के रेगिस्तान में छाया के लिए

बादल छाया कर देते थे। और सुना है कि जब महावीर चलते थे, तो रास्ते में कांटा भी पड़ा हो सीधा तो उल्टा हो जाता था। ये सारी बातें कहानियां मालूम होती हैं। लेकिन अभी १९५९ में जो घटना घटी है, वह कहानी नहीं हो सकती। इसके हजारों पर्यवेक्षक हैं, निरीक्षक हैं।

जितने दिन दलाई लामा को हिमालय से भारत पहुंचने में लगे, उतने दिन पूरे हिमालय पर एक धुन्ध छा गई। और सौ हवाई जहाज खोज रहे थे, लेकिन नीचे देख सकना सम्भव नहीं था। वह धुन्ध उसी दिन पैदा हुई थी, जिस दिन दलाई लामा पोताला से बाहर निकले और वह धुन्ध उसी दिन समाप्त हो गई, जिस दिन दलाई लामा भारत में प्रवेश कर गये।

वैसी धुन्ध हिमालय पर कभी भी नहीं देखी गई। वह पहला मौका था। तो जो लोग धर्म की गुह्य धाराओं को समझते हैं, उनके लिए यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है। वह प्रमाण इस बात का है कि जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, अगर वह विनष्ट होने के करीब है, तो पूरी प्रकृति उसे बचाने की कोशिश करती है।

लाओत्से की पूरी परम्परा नष्ट होने के करीब है। दुनिया में बहुत तरह की कोशिश की जा रही है कि वह परम्परा नष्ट न हो पाए, उसके बीज कहीं और अंकुरित हो जाएं, कहीं और स्थापित हो जायें। मैं जो भी बोल रहा हूं, वह भी उसी बड़े प्रयास का एक हिस्सा है।

और लाओत्से को अगर कहीं भी स्थापित करना हो, तो भारत के अतिरिक्त और कहीं स्थापित करना बहुत मुश्किल है। दलाई लामा को भी जरूरी नहीं था कि भारत भागें, कहीं और भी भाग सकते थे। लेकिन कहीं और आशा नहीं है। वे जो लाये हैं, उन्हें किन्हीं हृदयों तक पहुंचाना हो तो और कहीं उन हृदयों की सम्भावना न के बराबर है।

इसलिए लाओत्से पर बोलने को मैंने चुना कि शायद कोई बीज आपके मन में पड़ जाये और अंकुरित हो जाये, क्योंकि भारत समझ सकता है।

अकर्म की धारणा को भारत समझ सकता है। निसर्ग की, स्वभाव की धारणा को भारत समझ सकता है। क्योंकि हमारी पूरी चेष्टा यही रही है हजारों वर्षों से।

यह सुनकर आपको कठिनाई होगी। क्योंकि आपको समझानेवाले साधु-महात्मा जो समझा रहे हैं, वह कनफ्यूशियस से मिलता-जुलता है, लाओत्से से मिलता-जुलता नहीं है। आपको भी जो शिक्षाएं दी जाती हैं, वे भी प्रकृति की नहीं हैं, वे भी सारी शिक्षाएं आदर्शों की हैं। उनमें भी कोशिश की जा रही है कि आपको कुछ बनाया जाए। लेकिन, मैं मानता हूं कि वह भारत की मूल धारा नहीं है।

भारत की मूल धारा यही है कि आपको कुछ बनाया न जाये; क्योंकि जो भी आप हो सकते हैं, वह आप अभी हैं। आपको उघाड़ा जाये, बनाया न जाए। आपके भीतर एक क्षितिज है। आपको कुछ और होना नहीं है, जो भी आप हो सकते थे और जो भी आप कभी हो सकेंगे, वह आप अभी इसी क्षण हैं। वह सिर्फ ढंका है। कुछ निर्मित नहीं करना है; कुछ अनावरण, कुछ परदा हटा देना है। आदमी को बनाना नहीं है परमात्मा, आदमी परमात्मा है। सिर्फ इसका स्मरण, सिर्फ इसका बोध, इसकी जागृति चाहिए। खजाना आपके घर में है; उसे कहीं खोजने नहीं जाना है, कोई दूर की यात्रा नहीं करनी है। लेकिन वह कहां गड़ा है, इसका आपको स्मरण नहीं रहा। हो सकता है, आप उसी के ऊपर बैठे हों और उसका आपको कोई पता नहीं है।

लाओत्से को भारत में स्थापित करना भारत की ही जो गहनतम् आंतरिक दबी धारा है, उसको भी आविष्कृत करने का उपाय है। तो दोहरे प्रयोजन हैं। एक तो लाओत्से चीन से उजड़ गया, वहां बचना बहुत असंभव है और भारत के अतिरिक्त और कोई जगह मिल भी नहीं सकती है जहां उसके बीज अंकुरित हो सकें, एक। और दूसरा यह कि भारत खुद उसके साधु-संन्यासियों की शिक्षा से पीड़ित और परेशान है। और वे शिक्षाएं भारत की मौलिक शिक्षाएं नहीं हैं। वे शिक्षाए नैतिक नियमों को शिक्षाएं हैं, सुधारकों की शिक्षाएं हैं; लेकिन वे क्रांतिद्रष्टा ऋषियों की शिक्षाएं नहीं हैं।

सच बात यह है कि लाओत्से जैसे महर्षि जब भी हुए, तभी समाज उनसे भयभीत हो जाता है। और समाज के ठेकेदार भी भयभीत हो जायेंगे। समाज के बूढ़े और नेता भी भयभीत हो जाएंगे। वे उनकी पूजा भी कर सकते हैं, उन्हें आदर भी दे सकते हैं; लेकिन बहुत शीघ्र उनकी शिक्षाओं

को परिवर्तित कर लेगे और उनकी शिक्षाओं में वह तत्व डाल देंगे, जो तत्व आदमी को निर्मित करने की चेष्टा करता है, जो उसे बनाने की चेष्टा करता है। वह भविष्य में आदर्श को रखता है और एक धारणा लेकर चलता है, एक ढांचा, कि आदमी ऐसा हो तो ठीक है।

असल में शिक्षक जी नहीं सकता, अगर वह आपको स्वीकार कर ले। नेता जी नहीं सकता, अगर वह कह दे कि आप स्वयं परमात्मा हैं। गुरु बच नहीं सकता, अगर वह शिष्य से कहे कि कहीं जाना नहीं है, कहीं पहुंचना नहीं है, कुछ पाना नहीं है; तुम जो भी हो सकते हो, वह हो। सारा गोरखधन्धा शिक्षक का, गुरु का, नेता का, चल सकता है इसीलिए कि आपको भरोसा दिलाया जाए कि आप गलत हैं और ठीक करने का काम किसी और के हाथ में है, कुन्जी किसी और के हाथ में है। वह आपको ठीक करेगा; आप गलत हैं। अपराध की भावना पैदा करवाई जाएगी कि आप गलत हैं। जब आप कंपने लगें भय से कि मैं गलत हूं, तभी तो आप किसी के चरण में गिरेंगे और कहेंगे कि मुझे ठीक करो। और जब आप डर जाएंगे, तभी किसी ठीक करनेवाले को मौका है कि वह आप पर काम शुरू करे। अगर आप ठीक हैं तो सारा का सारा धन्धा, जिसे हम धर्म समझ रहे हैं, गिर जाता है, टूट जाता है; उसके खण्ड रह जाते हैं।

धर्म के शोषण करनेवालों के कुछ सूत्र हैं, वे उनके पेट सीक्रेट हैं। वे उनके धन्धों के बुनियादी सूत्र हैं। पहला यह कि आप जैसे हैं, गलत हैं, आप जो कर रहे हैं वह गलत है। आपकी वृत्तियां गलत हैं, आपके कर्म गलत हैं, आपका होना ही गलत है। यह जितने जोर से आपको समझाया जाए, उतने ही जोर से धर्म का धन्धा चलता है। क्योंकि तब ठीक करनेवाले की जरूरत है। और मजे की बात यह है कि यह धन्धा सनातन है। क्योंकि आप कभी ठीक हो नहीं सकते।

आप ठीक इसलिए नहीं हो सकते कि आप गलत हैं नहीं, ठीक होने का कोई उपाय नहीं है। अगर कोई बीमारी होती तो उसका इलाज हो सकता था, लेकिन वहां कोई बीमारी नहीं है। बीमारी कल्पित है और इलाज कल्पित है। और धन्धा लम्बा है, उसका कोई अन्त नहीं है।

आप उसी दिन ठीक हो जाएंगे, जिस दिन आपको पता चलेगा कि आप गलत थे ही नहीं। जिस क्षण आप अपने को स्वीकार कर लेते हैं कि मैं जैसा हूं यही मेरी नियति है, उसी क्षण संघर्ष समाप्त है। इसे थोड़ा

समझ लें, यह बहुत कठिन है। इसलिए लाओत्से को पकड़ पाना कठिन है; जगत में जो भी गहन चिन्तक हुए हैं उनको पकड़ पाना कठिन है।

इसे थोड़ा समझें। जिस क्षण भी आप यह समझ लेंगे कि मैं जैसा हूं वैसा होना ही मेरी नियति है, इससे अन्यथा नहीं हो सकता, उसी क्षण सारा तनाव गिर जाता है, सारी अशांति गिर जाती है, सारा असन्तोष, सारी दौड़, सब खो जाता है। उसी क्षण सारी खोज बन्द हो जाती है। जिस क्षण न कोई खोज रहती, न कोई दौड़ रहती, न कोई भविष्य रहता, जिस क्षण आप अपने को इतनी पूर्णता में स्वीकार कर लेते हैं कि उस क्षण के आगे जाने की कोई जरूरत नहीं रह जाती, उसी क्षण आपके सब परदे गिर जाते हैं और आपके भीतर जो छिपा है वह प्रगट हो जाता है। दौड़ के कारण वे परदे नहीं गिर पाते; वासना के कारण वे परदे नहीं गिर पाते। मैं यह हो जाऊं, वह हो जाऊं, इस तनाव के कारण वे परदे निर्मित होते रहते हैं। ठीक होगा कहना कि यह दौड़, यह वासना की मैं कुछ हो जाऊं, कुछ बन जाऊं, कहीं पहुंच जाऊं, यही परदा है। इसके कारण ही मैं खिचा हुआ हूं और अपने स्वभाव के साथ एक नहीं हो पाता।

स्वभाव के साथ एक होने का सूत्र है स्वीकार। और कोई दयनीय स्वीकार नहीं, कोई असहाय स्वीकार नहीं। कोई मजबूरी स्वीकार नहीं, सहज स्वीकार कि मैं जो हूं, हूं। इसका यह अर्थ नहीं है कि आप बदल नहीं जायेंगे। सच तो यह है कि तभी आप बदलेंगे। आपके बदलने की कोशिश से आप नहीं बदल सकते। यह थोड़ा जटिल है। कौन बदलेगा आपको? आप ही बदलने की कोशिश में लगे हैं और आप गलत हैं। वह जो गलत है, वह बदलने की कोशिश में लगा है। तो वह और गलत हो जाएगा। वह जो पागल है, वही अपना इलाज भी कर रहा है, वह और पागल हो जाएगा। वह जो पहले से ही तिरछा है, वह सीधा होने की कोशिश कर रहा है, वह जो तिरछापन ही सीधा होने की कोशिश कर रहा है। सीधा होने की कोशिश में वह और भी टेढ़ा हो जाएगा। आप जैसे हैं, उसमें कुछ कोशिश करने से खतरा है। कोशिश कौन करेगा? आप ही करेंगे न।

लाओत्से जैसे दृष्टा कहते हैं, कुछ मत करो, रुक जाओ; अकर्म। तुम कुछ भी करोगे, भूल हो जाएगी।

अभी इंगलैंड में एक अद्भुत शिक्षक था मैथ्यू अलेक्जेन्डर। वह अपने शिष्यों से कहता था कि तुमने कुछ भी किया कि वह गलत होगा; क्योंकि तुम

गलत हो। इसलिए मैं तुमसे कुछ करने को नहीं कहता। कहता हूं, तुम कुछ करो मत, कुछ दिन के लिए तुम करना बन्द कर दो, कुछ दिन के लिए तुम करने का ख्याल छोड़ दो, कुछ दिन के लिए तुम सिर्फ रह जाओ जैसे हो। उस रह जाने से ठीक होना शुरू हो जाता है। यह कीमियां तब तक समझ में नहीं आती, तब तक उसका उपयोग न किया जाए।

हम तो मान ही नहीं सकते। क्योंकि हम जब इतनी कोशिश करके ठीक नहीं हो पा रहे हैं और लाओत्से जैसे लोग कहते हैं कि तुम कोशिश मत करो और ठीक हो जाओगे तो हमें समझ में नहीं आता। हम कहेंगे कि जब इतनी कोशिश से ठीक नहीं हो पा रहे हैं, तब यदि बिलकुल कोशिश न की तो और गलत हो जाएगे।

लेकिन मैं आपसे कहता हूं कि चाहे आप कोशिश करें या न करें, आप जैसे हैं वैसे ही रहेंगे, ज्यादा गलत नहीं हो जाएंगे। कोशिश करने से शायद ज्यादा गलत हो सकते हैं, रुक जाने से आप ज्यादा गलत नहीं हो जाएंगे। जितने हैं, ज्यादा से ज्यादा उतने ही रहेंगे। लेकिन कोशिश के रुक जाने से इतने भी नहीं रहेंगे, जैसे ही कोशिश रुकी कि स्वभाव प्रगट होना शुरू हो जाएगा।

दौड़ता हुआ आदमी अपने को नहीं देख पाता। देखने के लिए रुकना जरूरी है।

लाओत्से से अगर आप परिचित हो पाएं तो शायद आप उपनिषदों से, गीता से, महावीर और बुद्ध से, एक नए अर्थ में परिचित हो पाएगे, जो कि अर्थ आपसे छूट गये हैं।

लाओत्से पर चर्चा कर रहा हूं ताकि आप उपनिषद् को लाओत्से की दृष्टि से देखने में समर्थ हो पायें। तब आप उपनिषद् में बिलकुल नया अर्थ खोज लेंगे, जो आपके स्वामीगण जरा भी नहीं खोज पायें। तब गीता बिलकुल नया अर्थ प्रगट कर देगी, जो कि न शंकर खोज पाते हैं, न अरविन्द खोज पाते हैं, न तिलक खोज पाते हैं।

लाओत्से की पहचान बड़ी कीमती सिद्ध हो सकती है। उससे तो लाओत्से भी बच सकता है और भारत का भी अन्तर-हृदय उघाड़ा जा सकता है।

इसलिए उस पर चर्चा कर रहा हूं।

□ संकलन : *स्वामी आनंद मैत्रेय*

महावीर मेरी दृष्टि में : भगवान रजनीश

(भगवान श्री द्वारा १७ सितंबर ६९ से २ अक्टूबर ६९ तक श्रीनगर के पास डल झील स्थित शिविर में दिए गए प्रवचन जो 'महावीर मेरी दृष्टि में' प्रकाशित हो चुके हैं, का संक्षिप्त रूपांतरण।) ★ *सातवां पुष्प* ★

प्रश्न : आप जो कहते हैं वह शास्त्र में भी उपलब्ध हो सकता है, और आपका कहा भी शास्त्र बन रहा है। शास्त्र के संबंध में जो बात कह रहे हैं, वह आपकी बात पर भी वैसा ही लागू होता है। देखने वाले को इसमें भी दिखेगा और प्राचीन शास्त्र में भी, अन्यथा दोनों में नहीं दिखेगा; फिर शास्त्रों की निन्दा का प्रयोजन ?

भगवान श्री :

उनकी मैं निन्दा नहीं करता। जिससे कुछ मिल सकता हो और न मिले तो उसकी निंदा होती है; पर शास्त्र से कुछ मिल ही नहीं सकता, तो निंदा का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि शास्त्र का स्वभाव है कि उससे सत्य नहीं मिल सकता। जैसे, कोई एक रास्ते से जा रहा है और कहा जाय कि यह रास्ता वहां नहीं जाता जहां से उसे जाना है; बल्कि उल्टा जाता है। तो यह रास्ते की निंदा नहीं हुई कि यह रास्ता कहीं नहीं जाता। प्रज्ञा की खोज में निकले व्यक्ति को शास्त्र व्यर्थ है, क्योंकि शास्त्र का रास्ता पांडित्य को पहुंचाता है। पांडित्य प्रज्ञा से उल्टी चीज है—पांडित्य है उधार और प्रज्ञा है स्वयं की। उधार की कितनी ही सम्पदा क्यों न हो स्वयं की बन जाना असम्भव है। मैं जब यह कहता हूं कि शास्त्र के रास्ते सत्य को नहीं पहुंचा जा सकता तो मैं शास्त्र की निंदा करता हूं—ऐसा भूलकर भी न सोचें।

तो शास्त्र का स्वभाव ही ऐसा है कि उससे कोई प्रज्ञा को नहीं जान सकेगा। और अगर मेरे शब्दों पर निर्मित शास्त्र प्रज्ञा तक, सत्य तक पहुंचाता है तब तो गलत बात हो गई—मैं किसी शास्त्र की अवश्य ही निंदा कर रहा हूं और किसी की प्रशंसा नहीं, शास्त्र मात्र का स्वभाव ही ऐसा है, फिर चाहे वह महावीर का, बुद्ध का, कृष्ण का, मेरा अथवा तुम्हारा हो, कोई फर्क नहीं पड़ता—किसी का भी शास्त्र सत्य में ले जाने वाला नहीं। हां, लेकिन दूसरी बात सच है कि किसी को दिखलाई पड़ जाये तो उसे शास्त्र में भी दिख सकता है—शास्त्र की क्या बात; उसे कंकड़-पत्थर, पहाड़ और सबमें दिखाई पड़ता है।

कहने वाले या लिखने वाले का क्या इरादा रहा होगा, इसकी अपेक्षा शास्त्र किसी भी अर्थ में हमारे ज्ञान की वृद्धि नहीं करता, जैसे, आइना में

भी हमें वही दिखाई पड़ जाता है, जो हम हैं—कुरूप तो कुरूप और सुन्दर तो सुन्दर; आइना कोई वृद्धि नहीं देता। ज्ञानी को शास्त्र में ज्ञान मिल जायेगा, अज्ञानी को अज्ञान ही दिखता रहेगा। ज्ञानी शास्त्र में देखने नहीं जाता, अज्ञानी जाता है। सुन्दर आदमी दर्पण से मुक्त हो जाता है, जबकि कुरूप आदमी कुरूपता के बोध को दर्पण देखकर मिटाना चाहता है कि नहीं है अब; परन्तु कुरूपता का बोध होने से फिर दर्पण देखना पड़ जाता है और कुरूप ही दिखाई पड़ता है बार-बार। शास्त्र में वही दिखाई पड़ता है—जो हम हैं।

यह ठीक है आज नहीं कल मेरे शब्द इकट्ठे होंगे और शास्त्र बन जाएंगे उसी दिन उनकी हत्या हो गई। फिर भी, ध्यान रहे कि मैं किताब का विरोधी नहीं हूं; शास्त्र का विरोधी हूं। इन दोनों में फर्क करता हूं। **किताब का दावा नहीं सत्य देने का, वह सिर्फ संग्राहक है। शास्त्र का दावा सिर्फ संग्राहक होने का नहीं; दावा है सत्य देने का। जो किताब दावा करती है कि मैं सत्य हूं, वह शास्त्र बन जाती है।**

लाओत्से ने किताब में लिखा है कि जो कहा जायेगा वह सत्य नहीं होगा—इसे समझकर किताब को पढ़ना। यह किताब बोझ बनने की तैयारी में नहीं, मुक्त करने की तैयारी में थी। तो मेरी सारी बातें ऐसी हैं कि उनको काटा-पीटा न जाय तो शास्त्र बनना मुश्किल है—ज्यादा से ज्यादा किताब बन सकती है। शास्त्र बनाए जा सकते हैं। शास्त्र महावीर के बोलने से नहीं बनाया गया—गणधरों के पकड़ने से बना है। शास्त्र न बने इसके लिए वाणी ऐसी कांटों वाली, अंगारों से भरी हो कि पकड़ना मुश्किल हो जाये। लेकिन शब्द एक दिन बुझकर राख हो जाते हैं और पकड़ने वाले उन्हें मुट्ठी में पकड़ लेते हैं, इसलिए निरन्तर ज्ञानियों को पुराने ज्ञानियों की दुश्मनी में खड़ा होना पड़ता है। यह दुश्मनी नहीं, इससे बड़ी कोई मित्रता नहीं हो सकती, क्योंकि इस भांति जो राख पकड़ ली गई है, उसको छुड़ाने का कोई और रास्ता नहीं होता। तो जो महावीर को प्रेम करता है, उसे जैनियों के खिलाफ होना ही पड़ेगा—महावीर लौट आयें तो उन्हें भी; क्योंकि जो उन्होंने दिया था, वह जीवित अंगारा था—पकड़ा नहीं जा सकता था, सिर्फ जिया जा सकता था, समझा जा सकता था। अब राख हो गई, तो लोग उसे पकड़कर बैठ गये।

क्या करिश्मा है, क्या आश्चर्यजनक है बात कि कभी कृष्ण के खिलाफ महावीर, कि महावीर के खिलाफ बुद्ध और बुद्ध के खिलाफ कोई और खड़ा

है। होना तो यह चाहिये कि सब एक दूसरे का समर्थन करते हों। उल्टा होने का कारण है। इसके पहले कि किसी के जीवन में नए ज्ञान की किरण आए, उसे दिखाई पड़ता है कि लोगों के हाथ मे राख है—कभी वह भी अंगारा थी और यदि यह समझाया न जाय कि यह राख है तो छटकारा होने वाला नहीं; तो खिलाफ खडे होना पड़ता है, फिर भी न बुद्ध महावीर के, न महावीर कृष्ण के खिलाफ हैं। वे खिलाफ हैं शास्त्र बन जाने के, क्योंकि इसमें सत्य मर जाता है। इसलिए किसी ज्ञानी पर लड़ाई खत्म नहीं हो जायगी, आने वाले ज्ञानियों को उनका खडन करना ही होगा। यह बड़ा कठोर कृत्य है, लेकिन प्रेम इतना कठोर भी होता है।

जब महावीर ही, बुद्ध ही मिट जाते हैं तो जो कहा हुआ है, वह भी मिट जायेगा। इस जगत में कुछ भी शाश्वत नहीं है—न कोई वाणी, न कोई विचार, न कोई व्यक्ति। मिट जाने के बाद भी पकड़ने वाला आग्रह उसको पकड़े रखेगा और तब किसी को चेताना पड़ेगा कि लहर चली गई और इसे पकड़े रहे, तो नई लहर से भी चूक जाओगे। तो मैं शास्त्र की निन्दा नहीं कर रहा हूं—वह जो वस्तु स्थिति है, वह कह रहा हूं। और तुम कहते हो ठीक है कि मेरी बहुत सी बातें शास्त्र में मिल जायेंगी; इसलिए नहीं कि वह शास्त्र में है, बल्कि इसलिये कि तुम मेरी बातों को समझ लोगे।

आम तौर से हम यह समझते हैं कि शास्त्र से समझ निकलती है; निकलती नहीं, वरन् हम शास्त्र में अपनी समझ डालते हैं। और इसीलिये तो गीता की हजार टीकाएं हो सकती हैं। कृष्ण के अगर हजार मतलब रहे होंगे तो कृष्ण का दिमाग खराब रहा होगा। नहीं; कृष्ण का एक ही मतलब रहा होगा—टीकाएं हजार हो सकती हैं, क्योंकि हर व्यक्ति इसमें अपनी समझ खोज लेगा। उसी गीता को सुनकर अर्जुन हिंसा में, युद्ध में उतर जाता है और गांधी उसे अपनी माता समझते हैं—जीवन भर अहिंसा में चले जाते हैं। तो गीता बेचारी कुछ है कि गीता में हम कुछ डालते हैं। शास्त्र अपनी बुद्धि को बाहर निकालकर पढ़ने का उपाय है। भीतर पढ़ना मुश्किल है, इसलिए प्रोजेक्ट कर लेते हैं शास्त्र के परदे पर। फिर हमें दोहरी तृप्ति मिल जाती है। हमें अपने पर विश्वास नहीं है, तो जब गीता में हम अपने को पढ़ लेते हैं तो आश्वस्त हो जाते हैं, क्योंकि कृष्ण भी यही कहते हैं।

क्रमशः

□ संक्षिप्त रूपांतरण : *'आकुल' राजेन्द्र*

Bhagwan Rajneesh Literature

I Original English Books

1. The Inward Revolution 15 00
2. I am the Gate 10.00
3. Dynamics of Meditation 15 00
4. The Silent Explosion 12.50
5. Wisdom of folly 6.00
6. Thus spake Mulla Nasrudin 6.00
7. Meditation : A new Dimension 3.00
8. Beyond & Beyond 3.00
9. What is Meditation ? 3.00
10. Secrets of Descipleship 3.00
11. Flight of the alone to the alone 2.50
12. LSD : A shortcut to False Samadhi 2.00
13. Yoga : A spontaneous Happening 2.00
14. The Gateless Gate 2.00
15. The Slient Music 2.00
16. Turning In 2.00
17. The Eaternal Message 2.00
18. The Dimensionless Dimension 2.00
19. Seriousness 2.00
20. The Vital Balance 1.50

II Translated from Original Hindi

21. From Sex to Superconsciousness 6.00
22. Path to self Realisation 5.00
23. Earthen Lamps 4.50
24. Seeds of Revolutionary Thought 4.50
25. Mysteries of life & Death 4.00
26. Wings of Love & Random Thoughts 3.50
27. Towards the Unknown 1.50
28. Lead kindly light 1.50

III Critical Studies on Bhagwan Shri Rajneesh

29. Acharya Rajneesh : The Mystic of feeling 20.00
30. Lifting the veil 10.00
31. Acharya Rajneesh : A Glimpse 1.25

अभिनव आनन्द की सूचना

★★ र ज नी श ★★

द्वै-मासिक पत्रिका—की सदस्यता प्राप्त करें

शुल्क : एक वर्ष—१८ रु०, तीन वर्ष ५० रु०, पांच वर्ष—७५ रु०

आनन्द शिला प्रकाशन
साधु आनन्द सागर (प्रवीण द देसाई)
रूम ६४, ५वां माला, १६/२१, हमाम स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई, ४००००१.
दूरध्वनि : २५५४६६

भगवान रजनीश का दिव्य आवाहन

★ माउण्ट आबू साधना-शिविर ★

दिनांक ५ अप्रैल, ७४ की संध्या से १३ अप्रैल, ७४ की संध्या तक

भगवान रजनीश के भगवत् मार्ग निर्देशन में

☐ हिन्दी भाषा में ☐

प्रवचन विषय : *शिव-सूत्र*

कार्यक्रम : सुबह एवं रात्रि प्रवचन
सुबह सक्रिय ध्यान
मध्याह्न : कीर्त्तन ध्यान
रात्रि : त्राटक ध्यान

प्रवेश शुल्क : ४०/- रु०

स्थल : *बीकानेर पैलेस होटल*

(प्रवेश हेतु २५ मार्च तक अपना सदस्यता फार्म अहमदाबाद जीवन जागृति केन्द्र से प्राप्त कर, भरकर भेजें।)

अन्य विस्तृत जानकारी हेतु सम्पर्क करें :

जीवन जागृति केन्द्र
भवानी चेम्बर्स, आश्रम रोड,
अहमदाबाद—९
फोन : ७७५७३